

Chapter नौ

प्रह्लाद द्वारा नृसिंह देव का प्रार्थनाओं से शान्त किया जाना

जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है, प्रह्लाद महाराज ने ब्रह्माजी के आदेशानुसार भगवान् नृसिंहदेव को शान्त किया, क्योंकि हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद वे अत्यन्त क्रुद्ध थे।

हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद भगवान् क्रुद्ध बने रहे और ब्रह्माजी समेत सारे देवता उन्हें शान्त नहीं कर सके। यहाँ तक कि नारायण की चिरसंगिनी लक्ष्मी जी को भी नृसिंह भगवान् के सामने आने का साहस नहीं हुआ। तब ब्रह्माजी ने प्रह्लाद महाराज से कहा कि वे भगवान् के समक्ष जाएं और

उनके क्रोध को शान्त करें। प्रह्लाद महाराज अपने प्रभु भगवान् नृसिंहदेव की वत्सलता के प्रति आश्चस्त थे, अतएव उन्हें उनसे तनिक भी भय नहीं हुआ। वे अत्यन्त गम्भीर होकर भगवान् के चरणकमलों के समक्ष गये और उन्हें प्रणाम किया। भगवान् नृसिंहदेव प्रह्लाद महाराज पर अत्यन्त वत्सल थे, अतएव उन्होंने उनके सिर पर अपना हाथ रखा। इस स्पर्श से प्रह्लाद महाराज को तुरन्त ही *ब्रह्मज्ञान* उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मज्ञान से तथा पूर्ण भक्तिमय आह्लाद से पूरित होकर प्रार्थना की। उन्होंने अपनी प्रार्थना में जो उपदेश दिये वे निम्न प्रकार हैं—

प्रह्लाद ने कहा—“मुझे इसका गर्व नहीं है कि मैं भगवान् से प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं तो भगवान् की कृपा शरण ले रहा हूँ, क्योंकि बिना भक्ति के कोई भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। कोई उच्च कुल में जन्म लेकर या मात्र महान् ऐश्वर्य से या विद्या, तपस्या, या योग शक्ति से उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। सचमुच ही ये सब उन्हें प्रिय नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध भक्ति के अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ भी प्रसन्न नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बारह ब्राह्मण-गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण जाति का व्यक्ति भी उन्हें उतना प्रिय नहीं जितना कि चण्डाल के भी घर में उत्पन्न हुआ भक्त प्रिय होता है, वे उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हैं। भगवान् को किसी की प्रार्थनाओं की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि कोई भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है, तो इससे उसे काफी लाभ पहुँचता है। अतएव निम्न कुल में उत्पन्न अज्ञानी व्यक्ति हृदय से भगवान् की प्रार्थना कर सकते हैं और ये प्रार्थनाएँ भगवान् को स्वीकार होती हैं। ज्योंही कोई भगवान् से प्रार्थना करता है, वह ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

भगवान् नृसिंहदेव अकेले प्रह्लाद के निजी लाभ के लिए नहीं, अपितु सारे मानव समाज के लाभ हेतु प्रकट हुए थे। अभक्त को नृसिंहदेव का भयावह रूप भले ही अत्यन्त भयानक लगे, किन्तु भक्त के लिए तो भगवान् अन्य रूपों की ही भाँति सदैव वत्सल रहते हैं। इस भौतिक जगत में बद्ध जीवन सचमुच ही अत्यन्त भयावह है, किन्तु भक्त को किसी चीज का भय नहीं रहता। संसार का भय मिथ्या अहंकार के कारण है, अतएव प्रत्येक जीव के जीवन का चरम लक्ष्य भगवान् के दासानुदास पद को प्राप्त करना है। इस जगत में जीवों की दीन दशा का उपचार मात्र भगवत्कृपा ही है। यद्यपि ब्रह्मा तथा अन्य देवता, यहाँ तक कि अपना पिता भी, तथाकथित भौतिक रक्षक हैं, किन्तु वे भी किसी के लिए कुछ नहीं कर सकते, यदि कोई भगवान् द्वारा उपेक्षित हो। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण

ग्रहण करने पर वह भौतिक प्रकृति के प्रहार से बच सकता है। अतएव प्रत्येक जीव को तथाकथित भौतिक सुख के प्रति अनाकृष्ट रहकर यथासम्भव भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। मानव जीवन का यही उद्देश्य है। मात्र इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होना मूर्खता होगी। भगवद्भक्त या अभक्त के लिए उच्च या निम्नकुल में उत्पन्न होने का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा लक्ष्मी जी तक उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त नहीं कर पाते जब कि भक्त को सरलता से ऐसी भक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवान् की कृपा सबों पर समान रूप से वितरित होती है चाहे वह उच्चकुल में उत्पन्न हो या निम्नकुल में। चूंकि प्रह्लाद महाराज को नारद मुनि का आशीर्वाद प्राप्त था, प्रह्लाद एक महान् भक्त हो गए। भगवान् निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों से सदैव अपने भक्तों को बचाते हैं। भगवान् जीव की रक्षा करने तथा उसे लाभ पहुँचाने के लिए सदैव उसके हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार भगवान् कभी त्राता बनते हैं, तो कभी संहर्ता। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को किसी प्रकार का दोष न दे। उनकी ही योजना से इस जगत में जीवन की विविधता दिख रही है। ये सभी अन्ततोगत्वा उनकी कृपाएँ हैं।

यद्यपि सारा विराट जगत अभिन्न है, तो भी भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत से भिन्न है। केवल भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है कि अद्भुत प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से निकले कमल के आसन से प्रकट हुए, किन्तु प्रकट होने के बाद उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। उन पर मधु एवं कैटभ नामक दो असुरों ने आक्रमण कर दिया और उनसे वैदिक ज्ञान छीन लिया, किन्तु भगवान् ने उन्हें मारकर ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान वापस दिलाया। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक युग में देवों, मनुष्यों, पशुओं, सन्तों तथा जलचरों के बीच प्रकट होते रहते हैं। ऐसे सारे अवतार भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का वध करने के निमित्त होते हैं, किन्तु इस वध करने तथा रक्षा करने में भगवान् कोई पक्षपात नहीं बरतते। बद्धजीव सदैव बहिरंगा शक्ति के प्रति आकृष्ट होता है, अतएव उसमें लोभ तथा काम पाया जाता है और इस तरह वह कष्ट भोगता है। भक्त के प्रति भगवान् की अहैतुकी कृपा ही वह एकमात्र साधन है, जिससे संसार से बाहर निकला जा सकता है। जो भी व्यक्ति भगवान् के कार्यकलापों का गायन करता है, वह इस भौतिक जगत से निर्भय हो जाता है किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह सदैव कष्ट उठाता है।

जो लोग एकान्त में भगवान् की पूजा करने में रुचि रखते हैं, वे भले ही मोक्ष पा लें किन्तु शुद्ध भक्त अन्यों का कष्ट देखकर सदैव दुखी रहता है। अतएव वह अपने मोक्ष की परवाह न करके सदैव भगवान् की महिमा का उपदेश करता रहता है। इसलिए प्रह्लाद महाराज ने अपने सहपाठियों को उपदेश देकर उनका उद्धार करने का प्रयास किया और इसीलिए वे कभी शान्त नहीं रहे। यद्यपि शान्त रहना, तपस्या करना, वैदिक साहित्य को समझना, अनुष्ठान करना, एकान्त वास करना तथा जप और दिव्य ध्यान करना मोक्ष के जाने-माने साधन हैं, किन्तु ये सब उन अभक्त-वञ्चकों के लिए हैं, जो अन्यों पर आश्रित रहना चाहते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त ऐसे वंचक कार्यों से परे रहकर भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकता है।

विराट जगत की संरचना का परमाणुवाद तथ्यपरक नहीं है। भगवान् प्रत्येक वस्तु के कारणस्वरूप हैं अतएव वे इस सृष्टि के भी कारण हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को नमस्कार द्वारा, प्रार्थना द्वारा, मन्दिर में पूजा द्वारा, सदैव उनके स्मरण तथा उनके दिव्य कार्यकलापों के श्रवण द्वारा उनकी भक्ति में लगा रहे। इन छह प्रकार के कर्मों के बिना उसे भक्ति नहीं मिल सकती।

इस प्रकार प्रह्लाद महाराज ने पग-पग पर उनकी कृपा की याचना करते हुए उनकी प्रार्थना की। भगवान् नृसिंहदेव उनकी प्रार्थनाओं से प्रसन्न हो गये, अतएव उन्होंने प्रह्लाद महाराज को वर देना चाहा जिससे उन्हें सारी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। किन्तु प्रह्लादमहाराज ऐसी भौतिक सुविधाओं से दिग्भ्रमित होने वाले न थे। वे तो भगवान् के दासानुदास बने रहना चाहते थे।

श्रीनारद उवाच

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरः सराः ।
नोपैतुमशकन्मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारद उवाच—नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सुर-आदयः—देवताओं का समूह; सर्वे—सारे; ब्रह्म-रुद्र-पुरः सराः—ब्रह्मा तथा शिव द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाकर; न—नहीं; उपैतुम्—भगवान् के समक्ष जाने के लिए; अशकन्—समर्थ; मन्यु-संरम्भम्—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; सु-दुरासदम्—जिन तक पहुँच पाना दुष्कर है (नृसिंहदेव), उन्हें।

नारद मुनि ने आगे कहा : ब्रह्मा, शिव इत्यादि अन्य बड़े-बड़े देवताओं का साहस न हुआ कि वे भगवान् के समक्ष जायँ, क्योंकि उस समय वे अत्यन्त क्रुद्ध थे।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने प्रेम-भक्ति-चन्द्रिका में गाया है— 'क्रोध' भक्त-द्वेषि-जने— क्रोध का प्रयोग उस असुर को दण्डित करने के लिए किया जाना चाहिए जो भक्तों से ईर्ष्या करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य इन सबों का भगवान् तथा उनके भक्त के लिए समुचित उपयोग है। भगवद्भक्त कभी भी भगवान् या अन्य भगवद्भक्तों की निन्दा नहीं सहन कर सकता और न भगवान् ही भक्त की निन्दा सह सकते हैं। इस प्रकार नृसिंहदेव इतने अधिक क्रुद्ध थे कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवता और लक्ष्मी जी तक, जो कि भगवान् की नित्य संगिनी हैं, उनकी प्रशंसा तथा यशोगान द्वारा उन्हें शान्त नहीं कर सके। कोई भी भगवान् के क्रोध को शान्त नहीं कर सका, किन्तु क्योंकि भगवान् अपना प्यार प्रह्लाद महाराज को जताना चाहते थे, इसलिए सारे देवताओं तथा भगवान् के समक्ष उपस्थित अन्य जनों ने प्रह्लाद महाराज को ही उन्हें शान्त करने के लिए आगे कर दिया।

साक्षात्श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम् ।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्सा नोपेयाय शङ्किता ॥ २ ॥

शब्दार्थ

साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रीः—लक्ष्मी जी; प्रेषिता—भगवान् के समक्ष जाने के लिए प्रार्थना की गई; देवैः—सारे देवताओं (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस (नृसिंहदेव) को; महत्—अत्यन्त विशाल; अद्भुतम्—अद्भुत; अदृष्ट—कभी न देखा गया; अश्रुत—कभी न सुना गया; पूर्वत्वात्—कभी पहले; सा—वह लक्ष्मी; न—नहीं; उपेयाय—भगवान् के समक्ष गई; शङ्किता—अत्यधिक भयभीत।

वहाँ पर उपस्थित भयभीत सारे देवताओं ने लक्ष्मी जी से प्रार्थना की कि वे भगवान् के समक्ष जाएँ। किन्तु उन्होंने भी भगवान् का ऐसा अद्भुत तथा असामान्य रूप कभी नहीं देखा था, अतएव वे उनके पास नहीं जा सकीं।

तात्पर्य : भगवान् के असंख्य शारीरिक रूप हैं (अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्)। ये सारे रूप वैकुण्ठलोक में रहते हैं, तो भी लीला शक्ति से प्रेरित लक्ष्मी जी भगवान् के इस अद्वितीय रूप को नहीं जान पाईं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ब्रह्माण्ड पुराण से निम्नलिखित श्लोक सुनाते हैं—

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वाद् अन्यैः साधारणैर्जनैः ।

नृसिंहं शंकितेव श्रीलोकमोहायनो ययौ ॥

प्रह्लादे चैव वात्सल्यदर्शनाय हरेरपि ।

ज्ञात्वा मनस्तथा ब्रह्मा प्रह्लादं प्रेषयत् तदा ॥

एकत्रैकस्य वात्सल्यं विशेषादर्शयेद्धरिः ।

अवरस्यापि मोहाय क्रमेणैवापि वत्सलः ॥

दूसरे शब्दों में, सामान्य व्यक्ति के लिए नृसिंहदेव के रूप में भगवान् अष्ट तथा अद्भुत होते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्त के लिए भगवान् का ऐसा भयावह रूप किञ्चिदपि असामान्य नहीं होता। भगवत्कृपा से ही भक्त आसानी से समझ सकता है कि भगवान् जिस रूप में चाहें उसमें वे प्रकट हो सकते हैं। अतएव भक्त कभी भी ऐसे रूप से भयभीत नहीं होता। चूँकि भगवान् ने प्रह्लाद महाराज पर विशेष कृपा की थी, अतएव वे शान्त तथा निर्भय बने रहे, यद्यपि सारे देवतागण, यहाँ तक कि लक्ष्मी जी भी, भगवान् नृसिंहदेव से भयभीत थीं। नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति (भागवत ६.१७.२८)। न केवल प्रह्लाद महाराज जैसा नारायण-भक्त भौतिक जीवन की भयावह दशा से निर्भीक बना रहता है, अपितु भक्त के भय को दूर करने के लिए भगवान् के प्रकट होने पर भी भक्त सभी परिस्थितियों में अपनी निर्भीक स्थिति बनाये रखता है।

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके ।

तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज से; प्रेषयाम् आस—अनुरोध किया; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; अवस्थितम्—स्थित; अन्तिके—अत्यन्त निकट; तात—मेरे प्रिय पुत्र; प्रशमय—शान्त कराने का प्रयास करो; उपेहि—पास जाओ; स्व-पित्रे—तुम्हारे पिता के आसुरी कार्यों के कारण; कुपितम्—अत्यधिक क्रुद्ध; प्रभुम्—भगवान् को ।

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने अपने पास ही खड़े प्रह्लाद महाराज से अनुरोध किया—हे पुत्र, भगवान् नृसिंहदेव तुम्हारे आसुरी पिता पर अत्यधिक क्रुद्ध हैं। अतएव तुम आगे जाकर भगवान् को शान्त करो।

तथेति शनकै राजन्महाभागवतोऽर्भकः ।

उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार ब्रह्माजी के वचनों को मानकर; शनकैः—धीरे-धीरे; राजन्—हे राजा (युधिष्ठिर); महा-भागवतः—अत्यन्त महान् भक्त (प्रह्लाद महाराज); अर्भकः—यद्यपि छोटे बालक ही थे; उपेत्य—धीरे-धीरे निकट जाकर; भुवि—पृथ्वी पर; कायेन—अपने शरीर से; ननाम—प्रणाम किया; विधृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा, यद्यपि महान् भक्त प्रह्लाद महाराज केवल छोटे से बालक थे, लेकिन उन्होंने ब्रह्माजी की बातें मान लीं। वे धीरे-धीरे भगवान् नृसिंहदेव की ओर बढ़े और हाथ जोड़कर पृथ्वी पर गिर कर उन्हें सादर नमस्कार किया।

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
 विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
 उत्थाप्य तच्छीर्ष्यदधात्कराम्बुजं
 कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

स्व-पाद-मूले—अपने चरणकमलों पर; पतितम्—गिरा हुआ; तम्—उस (प्रह्लाद महाराज); अर्भकम्—छोटे से बालक को; विलोक्य—देखकर; देवः—नृसिंहदेव ने; कृपया—अपनी अहैतुकी कृपा से; परिप्लुतः—भावविभोर होकर; उत्थाप्य—उठा कर; तत्-शीर्षिण—उसके सिर पर; अदधात्—रख दिया; कर-अम्बुजम्—अपना कर कमल; काल-अहि—काल रूपी सर्प का (जो तुरन्त ही मार सकता है); वित्रस्त—डरा हुआ; धियाम्—उन सबों के जिनके मन; कृत-अभयम्—निर्भय बनाता है।

जब नृसिंहदेव ने देखा कि छोटे से बालक प्रह्लाद महाराज ने चरमकमलों पर साष्टांग प्रणाम किया है, तो वे अपने भक्त के प्रति अत्यधिक भाव-विभोर हो उठे। प्रह्लाद को उठाते हुए उन्होंने अपना कर-कमल उस बालक के सिर पर रख दिया। उनका हाथ उनके समस्त भक्तों को अभय-दान करने वाला है।

तात्पर्य : भौतिक जगत की चार आवश्यकताएँ हैं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति सदैव भयभीत रहता है (सदा समुद्रिग्न-धियाम्) और प्रत्येक व्यक्ति को निर्भय बनाने का एकमात्र साधन है कृष्णभावनामृत। जब भगवान् नृसिंहदेव प्रकट हुए तो सारे भक्त निर्भय हो गये। भक्त के निर्भय होने की आशा है भगवान् नृसिंहदेव के पवित्र नाम का कीर्तन करना। यतो यतो यामि ततो नृसिंहः—हम जहाँ-जहाँ भी जाँय, सदैव नृसिंह भगवान् का चिन्तन करें। इस तरह भगवद्भक्त को कोई भय नहीं रह जाएगा।

स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः
 सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
 तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
 हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (प्रह्लाद महाराज); तत्-कर-स्पर्श—नृसिंहदेव के कर कमल द्वारा स्पर्श किये जाने पर; धुत—पवित्र होकर; अखिल—सम्पूर्ण; अशुभः—अशुभ या भौतिक इच्छाएँ; सपदि—तुरन्त; अभिव्यक्त—प्रकट; पर-आत्म-दर्शनः—परमात्मा का साक्षात्कार; तत्-पाद-पद्मम्—नृसिंहदेव के चरणकमल को; हृदि—हृदय में; निर्वृतः—दिव्य आनन्द से पूरित; दधौ—बन्दी बना लिया; हृष्यत्-तनुः—शरीर में दिव्य आनन्द का प्रकट्य; क्लिन्न-हृत्—दिव्य आनन्द के कारण मृदु हुए हृदय वाला; अश्रु-लोचनः—अपनी आँखों में आँसू भर कर।

भगवान् नृसिंहदेव द्वारा प्रह्लाद महाराज का सिर स्पर्श करने से प्रह्लाद के समस्त भौतिक कल्मष तथा इच्छाएँ पूर्णतया धुल गईं। अतएव वे दिव्य पद को प्राप्त हो गये और उनके शरीर में आनन्द के सारे लक्षण प्रकट हो गए। उनका हृदय प्रेम से पूरित हो उठा, उनकी आँखों में आँसू आ गये और उन्होंने अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को बन्दी बना लिया।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो भक्ति में पूरी तरह लगा रहता है और किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।” भगवान् ने अन्यत्र भगवद्गीता (९.३२) में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

“हे पृथापुत्र! जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे चाहे निम्नतर जन्म के अर्थात् स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र क्यों न हों परम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।”

भगवद्गीता के इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्रह्लाद महाराज असुर-कुल में उत्पन्न हुए थे और उनकी रगो में आसुरी रक्त प्रवाहित हो रहा था, किन्तु भक्त के दिव्य पद के कारण उनके सारे भौतिक शारीरिक कल्मष धुल गये थे। दूसरे शब्दों में, अध्यात्म पथ के ऐसे अवरोध उन्हें प्रगति करने से नहीं रोक सके थे, क्योंकि वे भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे। जो लोग तन तथा मन से नास्तिकता से दूषित हैं, वे कभी भी दिव्य पद पर स्थित नहीं हो सकते, किन्तु ज्योंही ऐसे लोग भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाते हैं त्योंही वे भक्ति के पद पर स्थित होने के योग्य हो जाते हैं।

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः ।

प्रेमगद्गदया वाचा तत्र्यस्तहृदयेक्षणः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अस्तौषीत्—वह प्रार्थना करने लगा; हरिम्—भगवान् की; एकाग्र-मनसा—भगवान् के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करके; सु-समाहितः—अत्यन्त मनोयोग से; प्रेम-गद्गदया—दिव्य आनन्द की अनुभूति के कारण बोल सकने में असमर्थ; वाचा—वाणी से; तत्-न्यस्त—उन (नृसिंहदेव) पर पूर्णतया समर्पित; हृदय-ईक्षणः—हृदय तथा दृष्टि सहित।

प्रह्लाद महाराज ने पूर्ण समाधि में पूरे मनोयोग से अपने मन तथा दृष्टि को भगवान् नृसिंहदेव पर स्थिर कर दिया। तब वे स्थिर मन से अवरुद्ध वाणी से प्रेमपूर्वक प्रार्थना करने लगे।

तात्पर्य : सुसमाहितः शब्द का अर्थ है “अत्यन्त ध्यानपूर्वक” या “पूर्णतया स्थिर होकर”। योगसिद्धि के फलस्वरूप ही इस प्रकार मन को स्थिर किया जा सकता है। श्रीमद्भागवत (१२.१३.१) में कहा गया है—*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।* मनुष्य को योगसिद्धि तभी मिल सकती है जब वह समस्त भौतिक विक्षेपों से मुक्त होता है और उसका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर हो जाता है। यह समाधि कहलाती है। प्रह्लाद महाराज ने यह अवस्था प्राप्त कर ली थी। चूँकि वे सेवा में लगे रहते थे, अतएव वे अपने को अध्यात्म पद पर स्थित अनुभव करते थे। उनका मन तथा ध्यान स्वभावतः अध्यात्म में लीन रहता था। उसी स्थिति में उन्होंने निम्न प्रकार से प्रार्थना करनी शुरू की।

श्रीप्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः

सत्त्वैकतानगतयो वचसां प्रवाहैः ।

नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः

किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने प्रार्थना की; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्माजी तथा अन्यो ने; सुर-गणाः—उच्च लोक के निवासी; मुनयः—परम साधु व्यक्ति; अथ—भी (यथा चारों कुमार इत्यादि); सिद्धाः—जिन्होंने सिद्धि या पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है; सत्त्व—आध्यात्मिक स्थिति के लिए; एकतान-गतयः—जिन्होंने बिना विचलन के किसी भी भौतिक कार्यकलाप को ग्रहण कर लिया है; वचसाम्—वृत्तान्तों या वचनों का; प्रवाहैः—धाराओं के द्वारा; न—नहीं; आराधितुम्—प्रसन्न करने के लिए; पुरु-गुणैः—यद्यपि पूर्णतया योग्य; अधुना—अब तक; अपि—भी; पिप्रुः—समर्थ थे; किम्—क्या; तोष्टुम्—प्रसन्न करने के लिए; अर्हति—समर्थ है; सः—वह (भगवान्); मे—मेरा; हरिः—भगवान्; उग्र-जातेः—असुर परिवार में जन्मा।

प्रह्लाद महाराज ने प्रार्थना की: असुर परिवार में जन्म लेने के कारण यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उपयुक्त प्रार्थना कर सकूँ? आज तक ब्रह्मा इत्यादि सारे देवता तथा समस्त मुनिगण उत्तमोत्तम वाणी से भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाये,

यद्यपि ये सारे व्यक्ति सतोगुणी एवं परम योग्य हैं, तो फिर मेरे विषय में क्या कहा जाये? मैं तो बिल्कुल ही अयोग्य हूँ।

तात्पर्य : एक पूर्ण योग्य वैष्णव भगवान् की प्रार्थना करते समय अपने को अत्यन्त तुच्छ समझता है। उदाहरणार्थ, *चैतन्य-चरितामृत* के लेखक कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—

जगाइ माधाइ हैते मुजि से पापिष्ठ ।

पुरीषेर कीट हैते मुजि से लधिष्ठ ॥

(*चैतन्य-चरितामृत*, आदि ५.२०५)

इस तरह वह अपने को विष्ठा के कीड़े से भी तुच्छ तथा जगाइ एवं माधाइ से भी अधिक पापी मानता है। शुद्ध वैष्णव अपने विषय में ऐसा ही सोचता है। इसी तरह यद्यपि प्रह्लाद महाराज अत्यन्त शुद्ध उच्च वैष्णव थे किन्तु वे अपने को भगवान् की प्रार्थना के लिए परम अयोग्य समझ रहे थे। *महाजनो येन गतः स पन्थाः* । प्रत्येक शुद्ध वैष्णव को इसी तरह सोचना चाहिए। उसे अपनी वैष्णव-योग्यताओं का वृथा गर्व नहीं होना चाहिए। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

“मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को पगडंडी के तिनके से भी तुच्छ माने और विनीत भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए, उसे मिथ्या प्रतिष्ठा-भाव से रहित होना चाहिए और सदैव अन्यो का आदर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में ही वह भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।” विनीत हुए बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर पाना अत्यन्त कठिन है।

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-

स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।

नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो

भक्त्या तुतोष भगवान्नाजयूथपाय ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं मानता हूँ; धन—सम्पत्ति; अभिजन—राजसी परिवार; रूप—सुन्दरता; तपः—तपस्या; श्रुत—वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान; ओजः—इन्द्रिय पराक्रम; तेजः—शारीरिक तेज; प्रभाव—प्रभाव; बल—शारीरिक शक्ति; पौरुष—उद्यम; बुद्धि—बुद्धि; योगाः—योग शक्ति; न—नहीं; आराधनाय—प्रसन्न करने के लिए; हि—निस्सन्देह; भवन्ति—हैं; परस्य—दिव्य का; पुंसः—भगवान्; भक्त्या—केवल भक्ति से; तुतोष—तुष्ट हो गया था; भगवान्—भगवान्; गज-यूथ-पाय—हाथियों के राजा (गजेन्द्र) के हेतु।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : भले ही मनुष्य के पास सम्पत्ति, राजसी परिवार, सौन्दर्य, तपस्या, शिक्षा, दक्षता, कान्ति, प्रभाव, शारीरिक शक्ति, उद्यम, बुद्धि तथा योगशक्ति क्यों न हो, किन्तु मेरी समझ से इन सारी योग्यताओं से भी कोई व्यक्ति भगवान् को प्रसन्न नहीं कर सकता। किन्तु भक्ति से वह ऐसा कर सकता है। गजेन्द्र ने ऐसा किया और इस तरह भगवान् उससे प्रसन्न हो गये।

तात्पर्य : कोई भी भौतिक योग्यता भगवान् को प्रसन्न करने का साधन नहीं हो सकती। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है भगवान् केवल भक्ति से जाने जा सकते हैं (भक्त्या मामभिजानाति)। जब तक भगवान् भक्त की सेवा से प्रसन्न नहीं हो जाते तब तक वे अपने आपको प्रकट नहीं होने देते (नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः)। यह समस्त शास्त्रों का अभिमत है। कोई न तो चिन्तन से, न ही योग्यताओं से भगवान् के पास जा सकता है या उन्हें समझ सकता है।

विप्राद् द्विषद्गुणयुतादरविन्दनाभ-

पादारविन्दविमुखात्श्वपचं वरिष्ठम् ।

मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-

प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विप्रात्—ब्राह्मण की अपेक्षा; द्वि-षद्-गुण-युतात्—बारह ब्राह्मण गुणों से सम्पन्न*; अरविन्द-नाभ—भगवान्, विष्णु, जिनकी नाभि से कमल निकला है; पाद-अरविन्द—चरणकमलों की; विमुखात्—भक्ति से विमुख; श्व-पचम्—निम्नकुल में जन्मे या चाण्डाल को; वरिष्ठम्—अत्यन्त यशस्वी; मन्ये—मानता हूँ; तत्-अर्पित—भगवान् के चरणकमलों में शरणागत; मनः—अपना मन; वचन—शब्द; ईहित—प्रत्येक प्रयास; अर्थ—सम्पत्ति; प्राणम्—तथा जीवन; पुनाति—शुद्ध करता है; सः—वह (भक्त); कुलम्—अपने परिवार को; न—नहीं; तु—लेकिन; भूरिमानः—जो झूठे ही अपने को प्रतिष्ठित पद पर सोचते हैं।

Footnote Starts Here:

*पूर्ण ब्राह्मण के बारह गुण इस प्रकार हैं—धर्म पालन, सत्य भाषण, तपस्या द्वारा इन्द्रिय निग्रह, ईर्ष्या से रहित होना, बुद्धिमान होना, सहिष्णु होना, शत्रु न बनाना, यज्ञ करना, दान देना, स्थिर रहना, वेदाध्ययन में पारंगत होना तथा व्रत पालना। *

Footnote Ends Here.

यदि किसी ब्राह्मण में बारहों योग्यताएँ (*सनत्सुजात* ग्रन्थ में उल्लिखित) हों किन्तु यदि वह भक्त नहीं है और भगवान् के चरणकमलों से विमुख है, तो वह उस चाण्डाल भक्त से भी अधम होता है, जिसने अपना सर्वस्व मन, वचन, कर्म, सम्पत्ति तथा जीवन भगवान् को अर्पित कर दिया है। ऐसा भक्त उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, क्योंकि भक्त अपने सारे परिवार को पवित्र कर सकता है जब कि झूठी प्रतिष्ठा वाला तथाकथित ब्राह्मण अपने आप को आप भी शुद्ध नहीं कर पाता।

तात्पर्य : यह एक भक्त तथा एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण का अन्तर बताने वाला कथन बारह महाजनों में से एक प्रह्लाद महाराज का है। मानव समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में बँटा है, किन्तु प्रधान सिद्धान्त उच्चकोटि का शुद्ध भक्त बनना है। *हरि-भक्ति-सुधोदय* में कहा गया है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः ।

अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम् ॥

“यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य जैसे उच्चकुल में उत्पन्न होता है, किन्तु यदि वह भगवद्भक्त नहीं है, तो उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के सारे गुण व्यर्थ हैं। निस्सन्देह, वे शव के अलंकरण जैसे माने जाते हैं।”

इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज विप्रों अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणों की बात करते हैं। चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विप्र को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु अधम चाण्डाल परिवार में जन्मा भक्त ऐसे विप्रों से श्रेष्ठ होता है—क्षत्रियों, वैश्यों इत्यादि की तो बात ही नहीं उठती। भक्त अन्य सबों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ब्रह्म पद पर सदैव दिव्य पद पर रहता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता, वह तुरन्त ही भौतिक गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है” (*भगवद्गीता* १४.२६)। *सनत्सुजात* पुस्तक में प्रथम कोटिक ब्राह्मण के बारह गुण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं च

ह्यमात्सर्यं हीस्तितिक्षानसूया ।

यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च

महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥

कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यूरोपीय तथा अमरीकी भक्तों को कभी-कभी ब्राह्मण मान लिया जाता है, किन्तु तथाकथित ब्राह्मण जाति के लोग उनसे अत्यधिक ईर्ष्या करते हैं। ऐसी ईर्ष्या के उत्तर में प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि जो ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर अपने प्रतिष्ठित पद का मिथ्या गर्व करता है, वह स्वयं को भी शुद्ध नहीं कर पाता, परिवार की तो कोई बात ही नहीं उठती। किन्तु यदि निम्नकुल में उत्पन्न चाण्डाल भक्त हो और भगवान् के चरणकमलों में पूर्णतः समर्पित हो तो वह अपने पूरे परिवार को शुद्ध कर सकता है। हमें इसका वास्तविक अनुभव है कि किस तरह अमरीकियों तथा यूरोपीयों ने कृष्णभावनाभक्त होकर अपने समूचे परिवारों को शुद्ध कर दिया है—यहाँ तक कि जब एक भक्त की माता मरने लगी तो उसने अपनी अन्तिम श्वास छोड़ते समय कृष्ण के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। अतएव यह सैद्धान्तिक रूप से सही है तथा व्यावहारिक रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि भक्त अपने परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सेवा कर सकता है। मूर्ख लोग भक्तों को पलायनवाद के सिद्धान्तों का पालन करने का दोषी ठहराते हैं। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि भक्त ही अपने परिवार को उठाने वाला सही व्यक्ति होता है। भक्त हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगा देता है अतएव वह सदैव बढ़ा चढ़ा उन्नत व्यक्ति है।

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णे

मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।

यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं

तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; एव—निश्चय ही; आत्मनः—अपने निजी लाभ के लिए; प्रभुः—स्वामी; अयम्—यह; निज-लाभ-पूर्णः—जो सदैव अपने में तुष्ट रहता है (अन्यों की सेवाओं द्वारा प्रसन्न किये जाने की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती); मानम्—आदर; जनात्—व्यक्ति से; अविदुषः—जो यह नहीं जानता कि जीवन का लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है; करुणः—(भगवान्) जो इस मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति पर इतना दयालु है; वृणीते—स्वीकार करता है; यत् यत्—जो भी; जनः—व्यक्ति; भगवते—भगवान् पर; विदधीत—अर्पित करे; मानम्—पूजा; तत्—वह; च—निस्सन्देह; आत्मने—अपने लाभ के लिए; प्रति-मुखस्य—दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब का; यथा—जिस तरह; मुख-श्रीः—मुँह का सौन्दर्य।

भगवान् सदैव आत्मतुष्ट रहने वाले हैं, अतएव जब उन्हें कोई भेंट अर्पित की जाती है, तो भगवत्कृपा से यह भेंट भक्त के लाभ के लिए ही होती है, क्योंकि भगवान् को किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि किसी का मुख सज्जित हो तो दर्पण में उसके मुख का प्रतिबिम्ब भी सज्जित दिखता है।

तात्पर्य : भक्तियोग में भक्त को नौ सिद्धान्तों का पालन करना होता है। ये हैं— *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।* श्रवण, कीर्तन इत्यादि द्वारा भगवान् का यशोगान भगवान् के लाभ के लिए नहीं है, यह भक्त के लाभ के लिए है। भगवान् तो सदैव महिमावान है चाहे भक्त महिमागान करे या न करे। किन्तु यदि भक्त भगवान् का महिमा-गायन करता है, तो भक्त स्वयं ही स्वतः यशस्वी बनता है (*चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापनम्*)। भगवान् का निरन्तर यशोगान करने से जीव का अन्तस्तल शुद्ध हो जाता है, जिससे वह समझ सकता है कि वह संसारी नहीं है, अपितु आत्मा है, जिसका वास्तविक कार्य कृष्णभावनामृत को आगे बढ़ाना है, जिससे वह भव-बन्धन से छूट सके। इस प्रकार संसार की प्रज्वलित अग्नि शमित हो जाती है (*भवमहादावाग्निनिर्वापनम्*)। मूर्ख व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य होता है जब कृष्ण आदेश देते हैं— *सर्वधमान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—सारे धार्मिक कार्यकलापों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। कुछ मूर्ख पंडित यहाँ तक कहते हैं कि ऐसी माँग करना अति है। किन्तु यह माँग भगवान् के लाभ के लिए नहीं की जाती, यह तो मानव समाज के कल्याण के लिए होती है। यदि सारे मनुष्य व्यष्टि रूप से तथा समष्टि रूप से प्रत्येक वस्तु को कृष्णभावनामृत में रखकर भगवान् को समर्पित कर दें तो इससे सारा मानव समाज लाभान्वित होगा। जो व्यक्ति भगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित नहीं करता उसे इस श्लोक में *अविदुष* या धूर्त कहा गया है। *भगवद्गीता* (७.१५) में भगवान् इसी प्रकार से कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

“ऐसे दुष्कृत लोग नितान्त मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा अपहृत हो चुका है और जो असुरों की भाँति नास्तिक स्वभाव के हैं; वे मेरी शरण में नहीं आते।” अज्ञान तथा दुर्भाग्य के

कारण नास्तिक तथा *नराधम* लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते। इसलिए भगवान् कृष्ण स्वयं पूर्ण होकर भी विभिन्न युगों में बद्धजीवों से यही चाहते हैं कि वे उनके शरणागत हो लें जिससे वे भव-बन्धन से मुक्त हो सकें। सारांश यह है कि हम जितना ही अधिक कृष्णभक्ति में लगते हैं और भगवान् की सेवा करते हैं उतना ही अधिक लाभ उठाते हैं। कृष्ण को हम से किसी प्रकार की सेवा नहीं चाहिए।

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथा मनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; अहम्—मैं; विगत-विक्लवः—अयोग्य होने का चिन्तन छोड़कर; ईश्वरस्य—ईश्वर का; सर्व-आत्मना—पूर्ण शरणागत होकर; महि—यश; गृणामि—कीर्तन या वर्णन करूँगा; यथा मनीषम्—अपनी बुद्धि के अनुसार; नीचः—यद्यपि निम्न कुल (मेरे पिता असुर रहे और समस्त सदगुणों से विहीन) में उत्पन्न; अजया—अज्ञान के कारण; गुण-विसर्गम्—भौतिक जगत (जिसमें जीव गुणों के कल्मष के अनुसार जन्म लेता है); अनुप्रविष्टः—के भीतर प्रविष्ट; पूयेत—शुद्ध हो; येन—जिससे (भगवान् के यश से); हि—निस्सन्देह; पुमान्—मनुष्य; अनुवर्णितेन—कीर्तन किये जाने या पाठ किये जाने पर ।

अतएव यद्यपि मैंने असुरकुल में जन्म लिया है, तो भी निस्सन्देह, जहाँ तक मेरी बुद्धि जाती है मैं पूरे प्रयास से भगवान् की प्रार्थना करूँगा। जो भी व्यक्ति अज्ञान के कारण इस भौतिक जगत में प्रविष्ट होने को बाध्य हुआ है, वह भौतिक जीवन को पवित्र बना सकता है यदि वह भगवान् की प्रार्थना करे और उनके यश का श्रवण करे।

तात्पर्य : यह स्पष्ट है कि भक्त को उच्च कुल में जन्म लेने, धनी होने, राजसी वृत्ति का या सुन्दर होने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से कोई भी गुण किसी को भक्ति में नहीं लगा सकता। उसे तो भक्ति में ऐसा अनुभव होना चाहिए “ईश्वर महान् हैं और मैं अत्यन्त लघु हूँ। अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैं भगवान् के प्रति प्रार्थना करूँ।” इसी आधार पर भगवान् को समझा जा सकता है और उनकी सेवा की जा सकती है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

“मनुष्य केवल भक्ति द्वारा परम पुरुष को यथारूप में समझ सकता है और जब वह ऐसी भक्ति द्वारा भगवान् की पूर्ण चेतना में होता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।” इस तरह प्रह्लाद महाराज ने अपने भौतिक पद का विचार न करते हुए भगवान् की स्तुति करने का निश्चय किया।

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
 ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
 क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
 विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; हि—निश्चय; अमी—ये; विधि-करा:—आदेश पालनकर्ता; तव—तुम्हारे; सत्त्व-धाम्नः—सदैव दिव्य जगत में स्थित रहकर; ब्रह्मा-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि देवता; वयम्—हम; इव—समान; ईश—हे भगवान्; न—नहीं; च—तथा; उद्विजन्तः—भयभीत (आपके भयानक रूप से); क्षेमाय—रक्षा के लिए; भूतये—वृद्धि के लिए; उत—कहा जाता है; आत्म-सुखाय—ऐसी लीलाओं से निजी तुष्टि के लिए; च—भी; अस्य—इस (भौतिक जगत) का; विक्रीडितम्—प्रकट; भगवतः—आपके; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; अवतारैः—अवतार से।

हे भगवान्, ब्रह्मा आदि सारे देवता आपके निष्ठावान् दास हैं, क्योंकि वे दिव्य पद पर स्थित हैं। अतः वे हमारी (प्रह्लाद तथा उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु की) तरह नहीं हैं। इस भयानक रूप में आपका प्राकट्य स्वान्तःसुख के लिए आपकी लीला है। ऐसा अवतार सदा ही ब्रह्माण्ड की रक्षा तथा सुधार (अभ्युदय) के लिए होता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज यह कहना चाह रहे थे कि उनके पिता तथा उनके परिवार के अन्य सदस्य अत्यन्त अभागे थे, क्योंकि वे सभी असुर थे जब कि भगवान् के भक्त उनके आदेशों का पालन करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहने से अत्यन्त भाग्यशाली हैं। जब भगवान् इस धरा पर विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, तो वे दो कार्य करते हैं—भक्तों की रक्षा तथा असुरों का विनाश (परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्)। उदाहरणार्थ, नृसिंहदेव अपने भक्त की रक्षा के लिए प्रकट हुए थे। उन जैसी लिलीएँ निश्चित रूप से भक्तों को भयभीत बनाने के लिए नहीं होती; फिर भी सारे भक्त अत्यन्त सरल एवं आज्ञाकारी होने के कारण भगवान् के भयानक अवतार से भयभीत थे। अतएव प्रह्लाद महाराज अपनी इस स्तुति में भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे अपना क्रोध त्याग दें।

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
 मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।

लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे

रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; यच्छ—कृपया त्याग दें; मन्युम्—अपना क्रोध; असुरः—मेरा पिता, महा असुर हिरण्यकशिपु; च—भी; हतः—मारा गया; त्वया—आपके द्वारा; अद्य—आज; मोदेत—प्रसन्न होते हैं; साधुः अपि—साधु पुरुष भी; वृश्चिक-सर्प-हत्या—साँप या बिच्छू मार कर; लोकाः—सारे लोक; च—निस्सन्देह; निर्वृतिम्—आनन्द; इताः—प्राप्त किया है; प्रतियन्ति—प्रतीक्षा कर रहे हैं (आपके क्रोध शान्त होने की); सर्वे—वे सभी; रूपम्—यह रूप; नृसिंह—हे नृसिंहदेव; विभयाय—उनका भय दूर करने के लिए; जनाः—ब्रह्माण्ड के सारे लोग; स्मरन्ति—स्मरण करेंगे।

अतएव हे नृसिंहदेव भगवान्, आप अपना क्रोध अब त्याग दें, क्योंकि मेरा पिता महा असुर हिरण्यकशिपु मारा जा चुका है। चूँकि साधु पुरुष भी साँप या बिच्छू के मारे जाने पर प्रसन्न होते हैं, अतएव इस असुर की मृत्यु से सारे लोकों को परम सन्तोष हुआ है। अब वे अपने सुख के प्रति आश्चस्त हैं और भय से मुक्त होने के लिए आपके इस कल्याणप्रद अवतार का सदैव स्मरण करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि साधु पुरुष कभी भी किसी जीव को मारना नहीं चाहते, किन्तु सर्प तथा बिच्छू जैसे ईर्ष्यालु जीवों का वध होने पर वे भी प्रसन्न होते हैं। हिरण्यकशिपु इसलिए मारा गया, क्योंकि वह सर्प या बिच्छू से भी निकृष्ट था और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सुखी था। अतः अब भगवान् को क्रोध करने की कोई आवश्यकता न थी। भक्तगण जब भी संकट में हो वे नृसिंहदेव के रूप का स्मरण कर सकते हैं, अतएव नृसिंहदेव का प्राकट्य तनिक भी अशुभ न था। भगवान् का प्राकट्य सदैव ही पूजनीय तथा समस्त विज्ञानों एवं भक्तों के लिए कल्याणप्रद होता है।

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-

जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।

आन्त्रस्त्रजःक्षतजकेशरशङ्कु कर्णा-

त्रिर्हार्दभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; बिभेमि—भयभीत हूँ; अजित—हे अजेय, परम विजयी पुरुष; ते—तुम्हारा; अति—अत्यन्त; भयानक—भयावना; आस्य—मुख; जिह्वा—जीभ; अर्क-नेत्र—सूर्य की तरह चमकती आँखें; भ्रुकुटी—कुद्ध भौंहें; रभस—प्रबल; उग्र-दंष्ट्रात्—भयावने दाँत; आन्त्र-स्त्रजः—आँतों की माला पहने; क्षतज—रक्त से सने; केशर—गर्दन के बाल; शङ्कु-कर्णात्—बछे जैसे पंने कान; निर्हार्द—गर्जना (आपके द्वारा की गई) से; भीत—डरा हुआ; दिगिभात्—जिससे बड़े-बड़े हाथी भी; अरि-भित्—शत्रु को फाड़ने वाला; नख-अग्रात्—अपने नाखून के अग्र भाग से।

हे अजित भगवान्, मैं न तो आपके भयानक मुख तथा जीभ से, न ही सूर्य के समान चमकीली आँखों से या टेढ़ी भौहों से भयभीत हूँ। मैं आपके तेज नुकीले दाँतों से, आँतों की माला से, रक्त रंजित गर्दन के बालों से या बछे जैसे पैने कानों से भी नहीं डर रहा हूँ। न ही मैं आपके सिंहनाद से भयभीत हूँ जिससे हाथी भाग कर दूर चले जाते हैं। न मैं आपके नाखूनों से भयभीत हूँ जो आपके शत्रु को मारने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् नृसिंहदेव का भयङ्कर स्वरूप अभक्तों के लिए निश्चय ही अत्यन्त घातक था किन्तु प्रह्लाद महाराज ऐसे भयावह स्वरूप से तनिक भी विचलित नहीं होने वाले नहीं थे। सिंह अन्य पशुओं के लिए अत्यन्त भयावह होता है, किन्तु सिंह शावक उससे तनिक भी भयभीत नहीं होते। सागर का जल स्थल के समस्त जीवों के लिए अत्यन्त भयानक लगता है, लेकिन सागर में रहने वाली एक छोटी सी मछली भी उसमें निर्भय विचरण करती है। क्यों? क्योंकि छोटी मछली ने विशाल सागर की शरण ले रखी है। कहा जाता है कि बड़े-बड़े हाथी नदी की बाढ़ में बह जाते हैं, किन्तु छोटी मछलियाँ धारा के विरुद्ध तैरती रहती हैं। अतएव यद्यपि दुष्कृति लोगों को मारने के लिए भगवान् कभी-कभी भयानक रूप धारण कर लेते हैं, किन्तु भक्तगण सदा उन्हें पूजते हैं। केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे। भक्तों को भगवान् की पूजा करने में सदैव आनन्द आता है और वे उनके किसी भी रूप का, चाहे वह मनोहर हो या भयावह, यशोगान करते हैं।

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र
संसारचक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्यसे कदा नु ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

त्रस्तः— डरा हुआ; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; कृपण-वत्सल—पतित आत्माओं पर अत्यन्त दयालु मेरे प्रभु; दुःसह—असहनीय; उग्र—भयानक; संसार-चक्र—जन्म मृत्यु का चक्र; कदनात्—ऐसी बुरी अवस्था से; ग्रसताम्—एक दूसरे को भक्षण करने वाले बद्धजीवों में से; प्रणीतः—फेंका जाकर; बद्धः—बँधा हुआ; स्व-कर्मभिः—अपने कर्मों के द्वारा; उशत्तम—हे दुर्जेय; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि-मूलम्—चरण कमलों के तलवे; प्रीतः—(मुझपर) प्रसन्न होकर; अपवर्ग-शरणम्—जो इस भयावह भौतिक संसार से मुक्ति के लिए शरण हैं; ह्यसे—आप मुझे बुला लेंगे; कदा—कब; नु—निस्सन्देह।

हे पतितों पर सदय, परम शक्तिशाली दुर्जेय प्रभु, मैं अपने कर्मों के कारण असुरों की संगति में आ पड़ा हूँ, अतएव मैं इस संसार में अपनी जीवन दशा से अत्यधिक भयभीत हूँ। वह क्षण

कब होगा जब आप मुझे उन चरणकमलों की शरण में बुला लेंगे जो बद्ध जीवन से मोक्ष के चरम लक्ष्य हैं ?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में रहना ही दुखमय है, किन्तु यदि किसी को असुरों अथवा नास्तिकों की संगति मिल जाये तो और भी असहनीय हो जाता है। कोई यह पूछ सकता है कि जीव को भौतिक जगत में क्यों डाल दिया जाता है ? निस्सन्देह, मूर्ख लोग कभी-कभी भगवान् का उपहास करते हैं क्योंकि वे उन्हें यहाँ ले आये। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार बद्ध जीवन में रखा जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज अन्य समस्त बद्धजीवों का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वीकार करते हैं कि उन्हें अपने कर्म के कारण असुरों के बीच में रखा गया। भगवान् कृपणवत्सल कहलाते हैं क्योंकि वे बद्धजीवों पर अत्यधिक दयालु हैं। अतएव जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जब-जब धर्म के पालन में त्रुटियाँ आती हैं तब-तब भगवान् अवतरित होते हैं (*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत... तदात्मानं सृजाम्यहम्*)। भगवान् बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, अतएव वे हम सबों को भगवद्धाम लौटने के लिए आदेश देते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*)। इस तरह प्रह्लाद महाराज को आशा थी कि भगवान् कृपा करके उन्हें अपने चरणकमलों की शरण में फिर से बुला लेंगे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करके भगवद्धाम लौटने के लिए उत्सुक रहना चाहिए और इसी तरह कृष्णभावनामृत में पूरी तरह प्रशिक्षित होना चाहिए।

यस्मात्प्रियाप्रियवियोगसंयोगजन्म-

शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।

दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्विद्याहं

भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिसके कारण (इस संसार में अस्तित्व के कारण); प्रिय—अच्छ लगने वाला; अप्रिय—न अच्छ लगने वाला; वियोग—विरह; संयोग—तथा मिलन के कारण; जन्म—जिसका जन्म; शोक-अग्निना—शोक की अग्नि से; सकल-योनिषु—किसी भी प्रकार के शरीर में; दह्यमानः—जल कर; दुःख-औषधम्—दुखी जीवन के लिए उपचार; तत्—वह; अपि—भी; दुःखम्—कष्ट; अ-तत्-धिया—शरीर को आत्मा मानकर; अहम्—मैं; भूमन्—हे महान; भ्रमामि—घूम रहा हूँ (जन्म मरण के चक्र में); वद—कृपया उपदेश दें; मे—मुझको; तव—तुम्हारा; दास्य-योगम्—सेवा कार्य।

हे महान, हे परमेश्वर, प्रिय तथा अप्रिय परिस्थितियों के संयोग से तथा उनसे बिछुड़ने के कारण मनुष्य स्वर्ग या नरक लोकों में अत्यन्त शोचनीय स्थिति को प्राप्त होता है मानो संताप की अग्नि में जल रहा हो। यद्यपि इस दुखमय जीवन से निकलने की अनेक औषधियाँ हैं किन्तु भौतिक जगत में ये औषधियाँ दुखों से भी अधिक कष्टकारक हैं। अतएव मैं सोच रहा हूँ कि इसकी एकमात्र औषधि आपकी सेवा में संलग्न होना है। कृपया मुझे ऐसी सेवा का उपदेश दें।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न होने के इच्छुक थे। अपने ऐश्वर्यशाली पिता की मृत्यु के बाद प्रह्लाद महाराज को उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार ग्रहण करना था, जो सारे विश्व में फैली थी, लेकिन वे ऐसे भौतिक ऐश्वर्य को ग्रहण करना नहीं चाह रहे थे, क्योंकि कोई चाहे स्वर्ग में रहे या नरक में, चाहे वह धनी हो या निर्धन, भौतिक दशाएँ सर्वत्र ही रहती हैं। अतएव कोई भी जीवन-दशा पूर्णरूपेण प्रिय नहीं होती। यदि मनुष्य अदूषित आनन्दमय जीवन भोगना चाहता है, तो उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए। भौतिक ऐश्वर्य भले ही कुछ काल तक प्रिय लगने वाला हो, किन्तु इसके लिए मनुष्य को अत्यधिक कठिन श्रम करना होता है। जब निर्धन व्यक्ति धनी बन जाता है, तो उसकी दशा सुधर जाती है, किन्तु उसे इस दशा तक पहुँचने में अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। भौतिक जीवन में कोई दुखी रहे या सुखी दोनों ही अवस्थाएँ दुखमय हैं। यदि कोई वास्तव में आनन्दमय सुखी जीवन चाहता है, तो उसे कृष्णभावनाभावित होना पड़ेगा और भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना होगा। यही असली औषधि है। सारा संसार इस भ्रम में है कि बद्धजीव के दुखों को दूर करने के लिए यदि भौतिकतावादी उपचारों में प्रगति की जाये तो लोग सुखी हो सकेंगे, किन्तु यह प्रयास कभी सफल होने वाला नहीं है। मानवता को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगने का प्रशिक्षण देना ही होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। मनुष्य की भौतिक दशाओं में परिवर्तन करने से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वत्र ही कष्ट तथा दुख हैं।

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया

लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।

अञ्जस्तितर्प्यनुगृणान्गुणविप्रमुक्तो

दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं (प्रह्लाद महाराज); प्रियस्य—अत्यन्त प्रिय की; सुहृदः—शुभचिन्तक; परदेवतायाः—भगवान् का; लीला-कथाः—लीलाओं की कथाएँ; तव—तुम्हारी; नृसिंह—हे नृसिंहदेव; विरिञ्च-गीताः—शिष्य परम्परा से ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त; अञ्जः—सरलता से; तितर्मि—पार कर लूँगा; अनुगृणन्—निरन्तर वर्णन करते हुए; गुण—प्रकृति के गुणों से; विप्रमुक्तः—विशेषतया अदूषित होने से; दुर्गाणि—जीवन की समस्त दुःखमय परिस्थितियाँ; ते—तुम्हारे; पद-युग-आलय—चरणकमलों में लीन; हंस-सङ्गः—हंसों अर्थात् मुक्तात्माओं की संगति पाकर (भौतिक गुणों से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है)।

हे भगवान् नृसिंहदेव, मुक्तात्माओं (हंसों) की संगति में आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहकर मैं प्रकृति के तीन गुणों के स्पर्श से पूर्णतः कल्मषहीन हो सकूँगा और अपने अत्यन्त प्रिय स्वामी आपकी महिमाओं का कीर्तन कर सकूँगा। मैं ब्रह्मा तथा उनकी शिष्य परम्परा के पद-चिन्हों पर ठीक तरह से चलकर आपकी महिमाओं का कीर्तन करूँगा। इस प्रकार मैं अज्ञान के सागर को निश्चय ही पार कर सकूँगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्त के जीवन तथा कर्तव्य की भली-भाँति व्याख्या की गई है। ज्योंही भक्त भगवान् के पवित्र नाम तथा उसके यश का कीर्तन कर सकता है, वह निश्चय ही मुक्ति-पद पर पहुँच जाता है। भगवान् के पवित्र नाम तथा कार्यकलापों के श्रवण तथा कीर्तन के प्रति अनुराग होने से (श्रवणं कीर्तनं विष्णोः) मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है जहाँ भौतिक कल्मष नहीं होता। मनुष्य को शिष्य परम्परा से प्राप्त प्रामाणिक गीतों का कीर्तन करना चाहिए। भगवद्गीता में कहा गया है कि शिष्य परम्परा के पालन से कीर्तन शक्तिशाली बनता है (एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः)। कीर्तन की अनेक विधियाँ बनाने से कोई प्रभाव नहीं होगा। किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा छोड़े गये गीत या कथा का कीर्तन (महाजनो येन गतः स पन्थाः) अत्यन्त प्रभावशाली होता है और यह विधि सरल भी है इसलिए इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज अञ्जः (सरलता से) शब्द का प्रयोग करते हैं। शिष्य परम्परा से प्राप्त महापुरुषों के विचारों को स्वीकार करना निश्चय ही उस शुष्क चिन्तन विधि से सरल होगा जिसके द्वारा मनुष्य परम सत्य को समझने के लिए कोई न कोई साधन ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। सर्वोत्तम विधि यही है कि पूर्ववर्ती आचार्यों के उपदेशों को स्वीकार करके उनका पालन किया जाये। तब ईश-साक्षात्कार तथा आत्म-साक्षात्कार अत्यन्त सरल हो जाएँगे। इस सरल विधि के पालन से मनुष्य प्रकृति के भौतिक गुणों के कल्मष से मुक्त हो जाता है और अज्ञान के उस सागर को पार कर सकता है, जो अनेक कष्टदायक परिस्थितियों से पूर्ण है। महान् आचार्यों के पदचिन्हों पर चलकर मनुष्य हंसों या परमहंसों की संगति प्राप्त करता है, जो भौतिक कल्मष अनेक कष्टदायक परिस्थितियों से

पूर्णतया मुक्त हैं। निस्सन्देह, आचार्यों के उपदेशों का पालन करके मनुष्य सदा से सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है और इस तरह उसका जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि वह जीवन-लक्ष्य तक पहुँच जाता है। यह भौतिक जगत दुखमय है, चाहे किसी का जीवन स्तर कैसा ही क्यों न हो। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भौतिक विधियों द्वारा संसार के दुखों को कम करने के सारे उपाय असफल होंगे। वास्तविक रूप में सुखी होने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए, अन्यथा सुख मिलना असम्भव है। कोई यह कह सकता है कि आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के लिए तपस्या करनी होती है, अर्थात् स्वेच्छा से असुविधा को स्वीकार करना होता है। किन्तु इस तरह की असुविधा उतनी घातक नहीं हैं जितनी कि सारे दुखों को कम करने के भौतिक प्रयास होते हैं।

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह

नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।

तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-

स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बालस्य—छोटे बच्चों का; न—नहीं; इह—इस संसार में; शरणम्—शरण (रक्षा); पितरौ—पिता तथा माता; नृसिंह—नृसिंहदेव; न—न तो; आर्तस्य—किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति का; च—भी; अगदम्—दवा; उदन्वति—सागर के जल में; मज्जतः—डूबते व्यक्ति की; नौः—नाव; तप्तस्य—भौतिक दुख से पीड़ित व्यक्ति का; तत्-प्रतिविधिः—(जगत के दुखों को रोकने के लिए खोजी गई) शमन विधि; यः—जो; इह—इस संसार में; अञ्जसा—अत्यन्त सरलता से; इष्टः—स्वीकृत (दवा के रूप में); तावत्—उसी तरह; विभो—हे स्वामी; तनु-भृताम्—भौतिक शरीर स्वीकार करने वाले जीवों का; त्वत्-उपेक्षितानाम्—आपके द्वारा उपेक्षित तथा अस्वीकृत।

हे नृसिंहदेव, हे परमेश्वर, देहात्मबुद्धि के कारण आपके द्वारा उपेक्षित देहधारी जीव अपने कल्याण के लिए कुछ भी नहीं कर पाते। वे जो भी उपचार स्वीकार करते हैं, उन से यद्यपि कदाचित् क्षणिक लाभ पहुँचता है, किन्तु वे स्थायी नहीं रह पाते। उदाहरणार्थ, माता तथा पिता अपने बालक की रक्षा नहीं कर पाते, वैद्य तथा दवा रोगी का कष्ट दूर नहीं कर पाते तथा समुद्र में कोई नाव डूबते हुए मनुष्य को नहीं बचा पाती।

तात्पर्य : माता-पिता की देख-रेख से, विभिन्न रोगों की दवा से तथा जल, स्थल और वायु में सुरक्षा के साधनों से भौतिक जगत के विभिन्न कष्टों से छुटकारा पाने का प्रयास किया जाता है, किन्तु इनमें से किसी एक के भी द्वारा सुरक्षा निश्चित नहीं है। मनुष्य को भले ही उनसे क्षणिक लाभ मिल जाए, किन्तु इनसे स्थायी लाभ नहीं पहुँचता। माता-पिता के रहते हुए बच्चों को आकस्मिक मृत्यु, रोग

तथा अन्य कष्टों से बचाया नहीं जा सकता। कोई भी, यहाँ तक कि माँ-बाप भी, उसकी सहायता नहीं कर सकते। अन्ततोगत्वा भगवान् ही शरण बनते हैं और जो कोई उनकी शरण ग्रहण करता है उसकी रक्षा हो जाती है। यह ध्रुव है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर यह घोषित कर दो कि भगवान् का भक्त कभी मरता नहीं। अतएव जब तक कोई भगवान् की अहैतुकि कृपा द्वारा रक्षित न हो तब तक कोई उपचार सफलता पूर्वक काम नहीं करता। फलस्वरूप मनुष्य को अहैतुकी भगवत्कृपा पर पूरी तरह निर्भर रहना चाहिए। यद्यपि नैतिक कर्म के रूप में अन्य उपचार विधियों को स्वीकार किया जाना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् द्वारा उपेक्षित है उसकी रक्षा कोई नहीं कर पाता। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के आक्रमण का सामना करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा वह प्रकृति के वशीभूत हो जाता है। अतएव यद्यपि तथाकथित दार्शनिक तथा विज्ञानी भी प्रकृति के प्रहार पर विजय पाना चाहते हैं, किन्तु वे अभी ऐसा नहीं कर पाये हैं। कृष्ण *भगवद्गीता* (१३.९) में कहते हैं कि संसार के असली दुख चार हैं—*जन्ममृत्युजराव्याधि*—अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग। विश्व के इतिहास में कभी कोई प्रकृति के द्वारा आरोपित इन दुखों पर विजय नहीं पा सकता। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। प्रकृति* इतनी प्रबल है कि कोई भी उसके कठोर नियमों पर विजय नहीं पा सकता। अतएव तथाकथित विज्ञानियों, दार्शनिकों, धर्मज्ञों तथा राजनीतिज्ञों को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वे जनता को सुविधाएँ प्रदान नहीं कर सकते। उन्हें जनता को जाग्रत बनाने के लिए विकट प्रचार करना चाहिए और उन्हें कृष्णभावनामृत के स्तर तक उठाना चाहिए। हमारे द्वारा विश्व भर में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करने का जो विनम्र प्रयास किया जा रहा है, वह शान्तिमय एवं सुखी जीवन लाने की एकमात्र औषधि है। हम भगवत्कृपा के बिना कभी सुखी नहीं बन सकते (*त्वद् उपेक्षितानाम्*)। यदि हम अपने परम पिता को अप्रसन्न करते रहें तो न तो हम इस भौतिक जगत में, न स्वर्गलोक में, न ही अधोलोक में, कभी भी सुखी बन सकेंगे।

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
 यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
 भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः

सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जीवन की किसी भी दशा में; यतः—किसी कारण से; यर्हि—किसी भी समय (भूत, वर्तमान या भविष्य) में; येन—किसी से; च—भी; यस्य—किसी के विषय में; यस्मात्—किसी कारण से; यस्मै—किसी के प्रति (स्थान, व्यक्ति या काल का विचार किये बिना); यथा—जिस तरह; यत्—चाहे जो भी हो; उत—निश्चय ही; यः—जो; तु—लेकिन; अपरः—दूसरा; परः—परम; वा—अथवा; भावः—प्राणी; करोति—करता है; विकरोति—बदलता है; पृथक्—भिन्न; स्वभावः—प्रकृति (प्रकृति के विभिन्न गुणों) के वशीभूत होकर; सञ्चोदितः—प्रभावित होकर; तत्—वह; अखिलम्—समस्त; भवतः—आपका; स्वरूपम्—आपकी विभिन्न शक्तियों से निस्सृत ।

हे प्रभु, इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों के अधीन है। सर्वोच्च व्यक्ति ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे प्राणी इन्हीं गुणों के वशीभूत हो कर कार्य करते हैं। अतएव इस जगत में सारे व्यक्ति आपकी शक्ति के वशीभूत हैं। वे जिस कारण से कर्म करते हैं, जिस स्थान में कर्म करते हैं, जिस काल में कर्म करते हैं, जिस पदार्थ के कारण कर्म करते हैं, जिस जीवन-लक्ष्य को उन्होंने अन्तिम मान रखा है तथा इस लक्ष्य को प्राप्त करने की जो विधि है—ये सभी आपकी शक्ति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। निस्सन्देह, शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होते हैं, वे सब आपकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य : कोई चाहे अपने माता-पिता द्वारा या सरकार अथवा किसी स्थान या किसी अन्य कारण से, अपने को रक्षित माने यह सब परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के कारण है। जो कुछ भी किया जाता है, वह चाहे उच्चलोक में, मध्यलोक में अधोलोक में क्यों न किया जाये, वह परमेश्वर के अधीक्षण या नियंत्रण के कारण होता है। अतएव यह कहा जाता है—*कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये*। जन-जन के हृदय में स्थित परमात्मा उसकी प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। ये सारी प्रवृत्तियाँ कर्मशील व्यक्ति के लिए कृष्ण द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ मात्र हैं। अतएव *भगवद्गीता* का कथन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा द्वारा प्रदत्त प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जीवन-लक्ष्य होता है, अतएव वह परमेश्वर द्वारा पथ-प्रदर्शित होकर भिन्न-भिन्न ढंग से कर्म करता है।

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात् से सूचित होता है कि सारे कर्म, चाहे वे जैसे भी हों, परमेश्वर के विभिन्न स्वरूप ही हैं। वे सब जीव द्वारा उत्पन्न हैं और भगवत्कृपा से ही पूर्ण होते हैं। यद्यपि ऐसे समस्त कर्म भगवान् से अभिन्न हैं, तो भी भगवान् निर्देश देते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सारे कर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। जब हम भगवान् के इस आदेश को

स्वीकार करते हैं, तो हम वास्तव में सुखी बन सकते हैं। किन्तु जब तक हम अपनी भौतिक इन्द्रियों के अनुसार कर्म करते हैं तब तक हम भौतिक जीवन में बने रहते हैं, किन्तु ज्योंही हम भगवान् के वास्तविक दिव्य आदेश के अनुसार कर्म करते हैं त्योंही हम आध्यात्मिक पद को प्राप्त होते हैं। भक्ति के कार्यकलाप भगवान् के प्रत्यक्ष अधीन हैं। नारद पञ्चरात्र का कथन है—

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

जब मनुष्य भौतिक उपाधियों को त्याग कर भगवान् के अधीन् होकर कर्म करता है, तो उसमें आध्यात्मिक जीवन का पुनः संचार होता है। इसे *स्वरूपेण अवस्थिति* कहा जाता है, जिसका अर्थ है अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना। यह मुक्ति का असली विवरण है।

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः

कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।

छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं

संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्यः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति; मनः*—मन; सृजति—उत्पन्न करती है; कर्म-मयम्—हजारों इच्छाएँ उत्पन्न करके उसके अनुसार कर्म करती हुई; बलीयः—अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्जेय; कालेन—समय द्वारा; चोदित-गुण—जिनके तीनों गुण विक्षुब्ध होते हैं; अनुमतेन—कृपादृष्टि से अनुमति प्राप्त (काल); पुंसः—भगवान् कृष्ण के अंश विष्णु का; छन्दः-मयम्—वेदों के निर्देशों से प्रभावित; यत्—जो; अजया—अज्ञान अंधकार के कारण; अर्पित—चढ़ाया गया; षोडश—सोलह; अरम्—तीलियाँ; संसार-चक्रम्—विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म-मृत्यु का चक्र (पहिया); अज—हे अजन्मा; कः—ऐसा कौन है; अतितरेत्—बाहर निकलने में समर्थ; त्वत्-अन्यः—आपके चरणकमलों की शरण लिए बिना।

Footnote Starts Here:

*मन सदैव योजना बनाता है कि किस तरह भौतिक जगत में रहा जाये और जीवन-संघर्ष होता रहे। यह सूक्ष्म शरीर का मुख्य अंग है। जिस शरीर में मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार रहते हैं।

Footnote Ends Here.

हे भगवान्, हे परम शाश्वत, आपने अपने स्वांश का विस्तार करके काल द्वारा क्षुब्ध होने वाली अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा जीवों के सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि की है। इस प्रकार मन जीव को अनन्त प्रकार की इच्छाओं में फाँस लेता है जिन्हें कर्मकाण्ड के वैदिक आदेशों तथा सोलह

तत्त्वों के द्वारा पूरा किया जाना होता है। भला ऐसा कौन है, जो आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना इस बन्धन से छूट सके ?

तात्पर्य : यदि हर वस्तु में भगवान् का हाथ रहे तो भौतिक बन्धन से छूटकर आध्यात्मिक आनन्दमय जीवन में जाने का प्रश्न कहाँ उठता है ? निस्सन्देह, यह तथ्य है कि कृष्ण प्रत्येक वस्तु के स्रोत हैं जैसाकि कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* में कहते हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*)। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगत्‌ओं के सारे कार्यकलाप परमेश्वर के आदेशों से भौतिक या आध्यात्मिक प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में आगे भी पुष्टि हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—भगवान् के आदेश के बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती, वह स्वतंत्रतापूर्वक कार्यशील नहीं हो सकती। अतएव प्रारम्भ में जीव ने भौतिक शक्ति का भोग करना चाहा और भगवान् कृष्ण ने जीव को सारी सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से इस भौतिक जगत की सृष्टि की और जीव को सुविधा प्रदान की कि वह मन के द्वारा नाना प्रकार के विचारों तथा आयोजनों की कल्पना करे। जन्म-मरण के चक्र की सृष्टि भगवान् ने की किन्तु प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार आगे बढ़ने के लिए मोहग्रस्त जीव को निर्देशित करने के लिए वेदों (*छन्दोमयम्*) में अनेक आदेश दिये गये हैं। यदि कोई स्वर्ग जाना चाहता है, तो उसे वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, जो भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, वे इन्हीं के बीच जन्म ग्रहण करते हैं, जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहते हैं।” वेदों का असली अभिप्राय जीव को भगवद्धाम वापस जाने का मार्गनिर्देश करना है, किन्तु जीव अपने जीवन के असली लक्ष्य को न जानने के कारण कभी यहाँ जाना चाहता है, तो कभी वहाँ और कभी यह करना चाहता है, तो कभी वह। इस प्रकार वह विभिन्न योनियों में बन्दी बन कर सारे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है और ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिसके फल उसे भोगने पड़ते हैं। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं (चै.च. मध्य. १९.१५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ।

पतित जीवात्मा माया में फँस कर भौतिक जगत में इधर-उधर भ्रमण करता रहता है किन्तु यदि भाग्यवश उसे भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि मिल जाता है, जो उसे भक्ति का बीज प्रदान करता है और यदि वह ऐसे गुरु या ईश्वर के प्रतिनिधि का लाभ उठाता है, तो उसे भक्ति-लता-बीज अर्थात् भक्ति का बीज प्राप्त होता है। यदि वह उचित रीति से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करता है, तो वह धीरे-धीरे आध्यात्मिक जगत तक उठा दिया जाता है। इससे चरम निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को भक्तियोग के सिद्धान्तों की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि इससे उसे क्रमशः मुक्ति प्राप्त होगी। इस भौतिक संघर्ष से मुक्ति की कोई भी अन्य विधि सम्भव नहीं है।

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना

कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।

चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे

निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (परम स्वतंत्र व्यक्ति ने अपनी बहिरंगा शक्ति से भौतिक मन की सृष्टि की जो इस भौतिक जगत के समस्त दुख का कारण है); त्वम्—तुम (हो); हि—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत रूप से; विजित-आत्म—जीता गया; गुणः—जिसका बुद्धि गुण; स्व-धाम्ना—अपनी निजी आध्यात्मिक शक्ति से; कालः—काल तत्त्व (जो सृजन तथा संहार करता है); वशी-कृत—आपके अधीन; विसृज्य—जिससे सारे प्रभाव; विसर्ग—तथा सारे कारण; शक्तिः—शक्ति; चक्रे—काल चक्र में (जन्म-मृत्यु का चक्र); विसृष्टम्—फेंका जाकर; अजया—आपकी बहिरंगा शक्ति, तमोगुण से; ईश्वर—हे परम नियन्ता; षोडश-अरे—सोलह तीलियों वाले (पाँच भौतिक तत्त्व, दस इन्द्रियाँ तथा इन सबका नायक मन); निष्पीड्यमानम्—विदलित (पहिए के नीचे) होकर; उपकर्ष—कृपया मुझे ले लें (अपने चरणकमलों की शरण में); विभो—हे महानतम; प्रपन्नम्—आपकी शरण में आया।

हे प्रभु, हे महानतम, आपने सोलह अवयवों से इस भौतिक जगत की रचना की है, किन्तु आप उनके भौतिक गुणों से परे हैं। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक गुण पूर्णतया आपके वश में हैं और आप कभी भी उनके द्वारा जीते नहीं जाते। अतएव काल तत्त्व आपका प्रतिनिधित्व करता है। हे प्रभु, हे महान्, आपको कोई नहीं जीत सकता किन्तु जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो कालचक्र द्वारा पिसा जा रहा हूँ; अतएव मैं आपको पूर्ण आत्म-समर्पण करता हूँ। अब आप मुझे अपने पाद-पद्मों में संरक्षण प्रदान करें।

तात्पर्य : भौतिक दुखों का चक्र भी भगवान् की ही सृष्टि है, किन्तु वे स्वयं भौतिक शक्ति के नियंत्रण में नहीं हैं, वे भौतिक शक्ति कि नियामक हैं। जब कि हम सारे जीव उनके वश में हैं। जब हम अपनी स्वाभाविक स्थिति त्याग देते हैं (जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य-दास') तो भगवान् इस भौतिक शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसके वश में सारे बद्धजीव हैं। वे परम हैं और वे ही बद्धात्मा को भौतिक प्रकृति के संघात से उबार सकते हैं (मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते)। बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया बद्धजीवों पर तीन प्रकार के तापों को थोपती है, अतएव पिछले श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से प्रार्थना की है “आपके अतिरिक्त अन्य कोई मेरी रक्षा नहीं कर सकता।” उन्होंने यह भी बताया कि बच्चे के रक्षक उसके माता-पिता न तो उसे जन्म-मृत्यु के संघात से बचा सकते हैं न ही औषधि तथा वैद्य उसे मृत्यु से बचा सकते हैं। इसी तरह नाव या अन्य ऐसे साधन भी जल में डूब रहे व्यक्ति को नहीं बचा सकते, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के नियामक भगवान् हैं। अतएव संतप्त मानवता को चाहिए कि कृष्ण की शरण में जाये, क्योंकि *भगवद्गीता* के अन्तिम उपदेश (१८.६६) में कृष्ण स्वयं माँग करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

“तुम सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। मैं सारे पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।” सारे समाज को चाहिए कि इस घोषणा का लाभ उठाए और भुत-वर्तमान तथा भविष्य के काल-चक्र द्वारा कुचले जाने के भय से कृष्ण द्वारा रक्षित हो जाये।

निष्पीड्यमानम् (पीसा जाकर) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक जीव वस्तुतः इस भौतिक जगत में पुनः पुनः पिसता रहता है और इस दशा से बचने के लिए उसे भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। तभी वह सुखी हो सकेगा। *प्रपन्नम्* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् की शरण में पूर्णतः जाये बिना कोई बच नहीं सकता। सरकार अपराधी को कारागार में डाल कर दण्ड देती है किन्तु वही सरकार यदि चाहे तो उसे बन्दी जीवन से मुक्त कर सकती है। इसी प्रकार, हमें यह अन्तिम रूप से जान लेना चाहिए कि हमारी यह दुखमय भौतिक अवस्था भगवान् द्वारा नियत की गई है और

यदि हम इस कष्ट से बचना चाहते हैं, तो हमें उसी नियन्ता से निवेदन करना चाहिए। इस तरह मनुष्य इस भौतिक अवस्था से बच सकता है।

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्यपाना-

मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।

येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभू-

विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दृष्टा:—व्यावहारिक रूप से देखा गया; मया—मेरे द्वारा; दिवि—उच्च लोकों में; विभो—हे प्रभु; अखिल—समस्त; धिष्य-पानाम्—विभिन्न राज्यों या लोकों के प्रधानों की; आयुः—आयु, उम्र; श्रियः—ऐश्वर्य; विभवः—यश, प्रभाव; इच्छति—इच्छा करते हैं; यान्—जो सब; जनः अयम्—ये सारे लोग; ये—जो (आयु, ऐश्वर्य आदि); अस्मत् पितुः—हमारे पिता हिरण्यकशिपु के; कुपित-हास—क्रुद्ध होने पर अपनी हँसी द्वारा; विजृम्भित—फैली हुई; भू—भौहों के; विस्फूर्जितेन—केवल स्वरूप से; लुलिताः—नीचे गिराई हुई या समाप्त; सः—वह (मेरा पिता); तु—लेकिन; ते—तुम्हारे द्वारा; निरस्तः—पूर्णतया विनष्ट।

हे भगवान्, सामान्यतः लोग दीर्घ आयु, ऐश्वर्य तथा भोग के लिए उच्च लोकों में जाना चाहते हैं, किन्तु मैंने अपने पिता के कार्यकलापों से इन सबों को देख लिया है। जब मेरे पिता क्रुद्ध होते थे और देवताओं पर व्यंग्य हँसी हँसते थे तो वे उनकी भौहों की गतियों को देखने से ही तुरन्त विनष्ट हो जाते थे। तो भी मेरे इतने शक्तिशाली पिता अब एक क्षण में आपके द्वारा ध्वस्त कर दिये गये।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में मनुष्य को व्यावहारिक अनुभव द्वारा भौतिक ऐश्वर्य, दीर्घायु तथा प्रभाव का महत्त्व समझ लेना चाहिए। हमें यह वास्तविक अनुभव है कि इसी लोक में नैपोलियन, हिटलर, सुभाषचन्द्र बोस तथा गांधीजी जैसे अनेक महान् राजनीतिज्ञ तथा सेनानी हुए हैं, किन्तु उनके जीवन का अन्त होते ही उनकी लोकप्रियता, प्रभाव तथा सभी कुछ समाप्त हो गया। प्रह्लाद महाराज को अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों को देखकर ऐसा ही अनुभव प्राप्त हुआ था, अतएव उन्होंने इस संसार की किसी वस्तु को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। कोई भी व्यक्ति न तो अपने शरीर को, न ही भौतिक उपलब्धियों को सदा बनाये रख सकता है। वैष्णव समझ सकता है कि इस भौतिक जगत में कोई भी चाहे कितना ही शक्तिशाली, ऐश्वर्यशाली या प्रभावशाली क्यों न हो, सदैव नहीं बना रह सकता। ऐसी वस्तुएँ किसी भी समय समाप्त हो सकती हैं। किन्तु उन्हें कौन समाप्त कर सकता है? भगवान्। अतएव मनुष्य को यह अन्तिम रूप से समझ लेना चाहिए कि परमेश्वर से बड़ा कोई नहीं

है और चूँकि वे चाहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अतएव प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह इस प्रस्ताव को माने। उसे बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के चक्र से बचने के लिए भगवान् की शरण में जाना चाहिए।

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ

आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चयात् ।

नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण

कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत; अमूः—इन सारे (ऐश्वर्यो); तनु-भृताम्—देहधारी जीवों के प्रसंग में; अहम्—मैं; आशिषः अज्ञः—ऐसे आशीर्वाद के फल को भलीभाँति जानता हुआ; आयुः—दीर्घ आयु; श्रियम्—भौतिक ऐश्वर्य; विभवम्—प्रभाव तथा यश; ऐन्द्रियम्—इन्द्रियतृप्ति के सारे साधन; आविरिञ्चयात्—ब्रह्मा से लेकर (एक क्षुद्र चींटी तक); न—नहीं; इच्छामि—चाहता हूँ; ते—तुम्हारे द्वारा; विलुलितान्—समाप्त किये जाने वाले; उरु-विक्रमेण—अत्यन्त शक्तिशाली; काल-आत्मना—काल के स्वामी के रूप में; उपनय—कृपया ले चलें; माम्—मुझको; निज-भृत्य-पार्श्वम्—अपने अत्यन्त आज्ञाकारी भक्त की संगति में।

हे भगवन्, अब मुझे सांसारिक ऐश्वर्य, योगशक्ति, दीर्घायु तथा ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक के सारे जीवों द्वारा भोग्य अन्य भौतिक आनन्दों का पूरा-पूरा अनुभव है। आप शक्तिशाली काल के रूप में इन सबों को नष्ट कर देते हैं। अतः मैं अपने अनुभव के आधार पर इन सबों को नहीं लेना चाहता। हे भगवन्, मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे अपने शुद्ध भक्त के सम्पर्क में रखें और निष्ठावान् दास के रूप में उसकी सेवा करने दें।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते हुए प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को अध्यात्म ज्ञान के इस महान् ग्रंथ में उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाओं से प्रह्लाद महाराज जैसा अनुभव प्राप्त हो सकता है। उसे चाहिए कि वह प्रह्लाद महाराज के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए अनुभव द्वारा यह सीखे कि सारा भौतिक ऐश्वर्य किसी क्षण नष्ट हो सकता है। यहाँ तक कि यह शरीर जिसके लिए हम अनेक ऐन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। किन्तु आत्मा शाश्वत है। न हन्यते हन्यमाने शरीरे—आत्मा शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी कभी नष्ट नहीं होता। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह आत्मा के सुख की चिन्ता करे, इस शरीर के सुख के लिए नहीं। यदि किसी को ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं जैसी दीर्घायु वाला शरीर मिल भी जाता है, तो वह भी नष्ट हो जाएगा, अतः बुद्धिमान मनुष्य को अमर अविनाशी आत्मा की ही चिन्ता करनी चाहिए।

मनुष्य को आत्म-रक्षा के लिए शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं— *छाड़िया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा।* यदि कोई अपने आपको भौतिक प्रकृति के थपेड़ों से बचाना चाहता है, जो भौतिक शरीर से उत्पन्न होते हैं, तो उसे कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और कृष्ण को पूरी तरह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है— *जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।* मनुष्य को चाहिए कि सच्चाई के साथ कृष्ण को समझे और ऐसा शुद्ध भक्त की सेवा द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज नृसिंहदेव से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें भौतिक ऐश्वर्य न प्रदान करके शुद्ध भक्त तथा दास के सान्निध्य में रखें। इस जगत में प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करना चाहिए। *महाजनो येन गतः स पन्थाः।* प्रह्लाद महाराज अपने पिता के द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति का भोग करना नहीं चाहते थे अपितु वे भगवान् के दास का दास बनना चाहते थे। उन्होंने उस मोहमयी मानव सभ्यता का तिरस्कार किया जो भौतिक उन्नति द्वारा सुख के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है। उनके चरणचिह्नों पर चलने वाले भक्त भी ऐसी सभ्यता का तिरस्कार करते हैं।

भौतिक ऐश्वर्य विभिन्न प्रकार के हैं जिन्हें शास्त्रों में *भुक्ति*, *मुक्ति* तथा *सिद्धि* कहा गया है। *भुक्ति* का अर्थ है श्रेष्ठ पद पर स्थित होना, यथा स्वर्ग लोक में देवताओं का पद जहाँ मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति का सर्वाधिक भोग कर सकता है। *मुक्ति* का अर्थ है भौतिक उन्नति से ऊब कर भगवान् से एकाकार होने की इच्छा करना। *सिद्धि* योगियों जैसे कठिन ध्यान द्वारा आठ प्रकार की सिद्धियाँ (अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि) प्राप्त करना है। ऐसे सारे लोग जो भुक्ति, मुक्ति या सिद्धि द्वारा किसी भौतिक उन्नति के इच्छुक हैं, वे कालक्रम में दण्डनीय हैं और वे पुनः भौतिक कार्यकलापों में लौट आते हैं। प्रह्लाद महाराज ने इन सबों का तिरस्कार कर दिया वे शुद्ध भक्त के निर्देशन में मात्र एक दास की भाँति लगे रहना चाहते थे।

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः

क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।

निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्

कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कुत्र—कहाँ; आशिषः—आशीर्वाद, वर; श्रुति-सुखाः—सुनने में मधुर लगने वाले; मृगतृष्णि-रूपाः—मरुस्थल में मृगतृष्णा के समान; क्व—कहाँ; इदम्—यह; कलेवरम्—शरीर; अशेष—असीम; रुजाम्—रोग का; विरोहः—उत्पत्ति स्थान; निविद्यते—तुष्ट होता है; न—नहीं; तु—लेकिन; जनः—सामान्य लोग; यत् अपि—यद्यपि; इति—इस प्रकार; विद्वान्—तथाकथित दार्शनिक, विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ; काम-अनलम्—कामेच्छा की प्रज्वलित अग्नि; मधु-लवैः—शहद (सुख) की बूंदों से; शमयन्—नियंत्रण करते हुए; दुरापैः—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीव कुछ न कुछ भावी सुख की कामना करता है, जो मरुस्थल में मृग-मरीचिका के समान है। भला मरुस्थल में जल कहाँ? दूसरे शब्दों में, इस भौतिक जगत में सुख कहाँ? जहाँ तक इस शरीर की बात है, इसका मूल्य ही क्या है? यह विभिन्न रोगों का स्रोत मात्र है। तथाकथित दार्शनिक, विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ इसे भली-भाँति जानते हैं फिर भी वे क्षणिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। सुख प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है लेकिन वे अपनी इन्द्रियों को वश में न रख पाने के कारण भौतिक जगत के तथाकथित सुख के पीछे दौते हैं और सही निष्कर्ष तक कभी नहीं पहुँच पाते।

तात्पर्य : एक बँगला गीत है, जिसमें बताया गया है कि “मैंने सुख के लिए यह घर बनाया, किन्तु दुर्भाग्यवश इसमें आग लग गई और अब सब कुछ जल कर राख हो गया है।” इससे भौतिक सुख की प्रकृति का चित्रण होता है। प्रत्येक व्यक्ति इसे जानता है फिर भी वह कुछ न कुछ प्रसन्नता प्रदान करनेवाली बात सुनना या सोचना चाहता है। दुर्भाग्यवश काल के साथ उसकी सारी योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। ऐसे अनेक राजनीतिज्ञ हुए हैं जिन्होंने साम्राज्य, श्रेष्ठता तथा विश्व-नियंत्रण की योजनाएँ तो बनाई, किन्तु कालक्रम में उनकी सारी योजनाएँ तथा साम्राज्य—यहाँ तक कि राजनीतिज्ञ स्वयं भी नष्ट हो गये। प्रत्येक व्यक्ति को प्रह्लाद महाराज से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि हम किस प्रकार इन्द्रियभोग के लिए शारीरिक अभ्यासों के द्वारा तथाकथित क्षणिक सुख में लगे रहते हैं। हम सभी बारम्बार योजनाएँ बनाते हैं, जो ध्वस्त होती रहती हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि ऐसी योजनाएँ बनाना छोड़ दे।

जिस प्रकार घृत डाल कर कोई व्यक्ति प्रज्वलित अग्नि को शमित नहीं कर सकता उसी तरह कोई भी व्यक्ति अपने इन्द्रिय-भोग के लिए योजनाएँ बनाकर तुष्ट नहीं हो सकता। यह प्रज्वलित अग्नि भव महादावाग्नि है। जंगलों में आग स्वयमेव लगती है, किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता। हम इस जगत में सुखी रहना चाहते हैं, किन्तु यह कभी सम्भव नहीं होगा, इससे तो इच्छाओं की जलती अग्नि में

वृद्धि होगी। हमारी इच्छाएँ भ्रामक विचारों तथा योजनाओं से पूरी नहीं हो सकतीं प्रत्युत हमें भगवान् कृष्ण के उपदेश का पालन करना होगा—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। तभी हम सुखी हो सकेंगे, अन्यथा सुख के नाम पर हम दुख भोगते रहेंगे।

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अहम्—मैं हूँ; रजः-प्रभवः—रजोगुणी शरीर में उत्पन्न होकर; ईश—हे ईश्वर; तमः—तमोगुण; अधिके—बढ़कर; अस्मिन्—इस; जातः—उत्पन्न; सुर-इतर-कुले—नास्तिकों या असुरों के परिवार में (जो भक्तों से निम्न कोटि हैं); क्व—कहाँ; तव—तुम्हारी; अनुकम्पा—अहैतुकी कृपा; न—नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी का; न—नहीं; तु—लेकिन; भवस्य—शिवजी का; न—न तो; वै—ही; रमायाः—लक्ष्मी जी का; यत्—जो; मे—मेरा; अर्पितः—चढ़ाया गया; शिरसि—सिर पर; पद्म-करः—कमल जैसा हाथ; प्रसादः—कृपा का प्रतीक।

हे प्रभु, हे परमात्मा, कहाँ घोर नारकीय रजो तथा तमोगुणी परिवार में उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अहैतुकी कृपा जो ब्रह्माजी, शिव जी या लक्ष्मी जी को कभी प्राप्त नहीं हो पाई? आप कभी भी इनके सिरों पर अपना कमल जैसा हाथ नहीं रखते, किन्तु आपने मेरे सिर पर इसे रखा है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् की अहैतुकी कृपा से आश्चर्यचकित थे, क्योंकि यद्यपि वे असुर कुल में उत्पन्न हुए थे और यद्यपि भगवान् ने ब्रह्मा, शिव या अपनी नित्यसंगिनी लक्ष्मी जी के सिर पर कभी अपना कमल जैसा हाथ नहीं रखा था तो भी भगवान् नृसिंहदेव ने प्रह्लाद महाराज के सिर पर कृपापूर्वक अपना हाथ रखा। यही अहैतुकी कृपा है। भगवान् की अहैतुकी कृपा किसी भी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है, चाहे इस जगत में वह किसी भी पद पर क्यों न हो। कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी भौतिक स्थिति कुछ भी हो, परमेश्वर की पूजा करने के लिए उपयुक्त है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूरी तरह भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार कर के ब्रह्म-पद को प्राप्त होता है।” जो कोई भगवान् की निरन्तर भक्ति करता है, वह आध्यात्मिक जगत में स्थित होता है और उसे भौतिक गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुणों) से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

चूँकि प्रह्लाद महाराज आध्यात्मिक पद पर स्थित थे अतएव उन्हें अपने इस शरीर से कुछ भी लेना-देना नहीं था, जो रजो तथा तमो गुणों से उत्पन्न था। रजो तथा तमो गुणों के लक्षण *श्रीमद्भागवत* (१.२.१९) में काम तथा लोभ के रूप में वर्णित हैं (*तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये*)। महान् भक्त होने के कारण प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता से उत्पन्न अपने शरीर को रजो तथा तमोगुणी माना, लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में लगे हुये थे, अतएव उनके शरीर का सम्बन्ध इस भौतिक जगत से न था। शुद्ध वैष्णव का शरीर इसी जीवन में अध्यात्मीकृत होता है। उदाहरणार्थ, जब लोहे को अग्नि में रखा जाता है, तो वह लाल हो जाता है और लोहा न रहकर अग्नि बन जाता है। इसी प्रकार भगवान् की भक्ति में संलग्न भक्तों के तथाकथित भौतिक शरीर भी आध्यात्मिक जीवन की अग्नि में निरन्तर रहने के कारण आध्यात्मिक बन जाते हैं, उन्हें भौतिक पदार्थ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है कि ब्रह्माण्ड-जननी लक्ष्मीजी को वैसी कृपा प्राप्त नहीं हो पाई जैसी प्रह्लाद महाराज को प्रदान की गई, क्योंकि यद्यपि लक्ष्मीजी परमेश्वर की नित्यसंगिनी हैं, किन्तु भगवान् अपने भक्तों पर अधिक ध्यान देते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्ति इतनी महान् है कि जब निम्नकुलों में उत्पन्न व्यक्ति भी भगवान् की सेवा करते हैं, तो वह उसे स्वीकार्य करके लक्ष्मी जी द्वारा की गई सेवा से बढ़कर मानते हैं। स्वर्गलोकों में वास करने वाले ब्रह्मा, इन्द्र तथा अन्य देवता विभिन्न चेतना में स्थित रहते हैं, इसलिए कभी-कभी असुरों द्वारा पीड़ित होते रहते हैं। किन्तु एक भक्त निम्नलोकों में भी स्थित रहकर किसी भी परिस्थिति में कृष्णभावनामृत के जीवन का आनन्द लेता। *परतः स्वतः कर्मतः*—वह जिस तरह कर्म करता है, जिस तरह अन्यो से शिक्षा ग्रहण करता है या जिस तरह अपने भौतिक कार्यकलाप करता है, प्रत्येक दशा में जीवन का आनन्द भोगता है। इस प्रसंग में मध्वाचार्य ने *ब्रह्म-तर्क* में उल्लिखित निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

श्री ब्रह्मब्राह्मीवीन्द्रादित्रिकतत् स्त्रीपुरुषुताः ।

तदन्ये च क्रमादेव सदा मुक्तौ स्मृतावपि ॥

हरिभक्तौ च तज्ज्ञाने सुखे च नियमेन तु ।

परतः स्वतः कर्मतो वा न कथञ्चित् तदन्यथा ॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-

जन्तोऽर्थथात्मसुहृदो जगतस्तथापि ।

संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः

सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषा—यह; पर-अवर—उच्च या निम्न का; मतिः—ऐसा भेद-भाव; भवतः—आपका; ननु—निस्सन्देह; स्यात्—होवे; जन्तोः—सामान्य जीवों का; यथा—जिस प्रकार; आत्म-सुहृदः—मित्र का; जगतः—समूचे संसारे का; तथापि—फिर भी (मैत्री या मतभेद का ऐसा प्रदर्शन होता है); संसेवया—भक्त द्वारा की गई सेवा की कोटि के अनुसार; सुरतरोः इव—वैकुण्ठ लोक में कल्पवृक्ष की भाँति (जो भक्त को इच्छानुसार फल देने वाला है); ते—तुम्हारा; प्रसादः—आशीर्वाद या आशीष; सेवा-अनुरूपम्—भगवान् के प्रति की गई सेवा की कोटि के अनुसार; उदयः—अभिव्यक्ति; न—नहीं; पर-अवरत्वम्—छोटे-बड़े का भेदभाव।

हे भगवान्, आप सामान्य जीवों की तरह मित्र तथा शत्रु एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल के मध्य भेदभाव नहीं बरतते, क्योंकि आप में ऊँच-नीच की कोई भावना नहीं है। फिर भी आप सेवा के स्तर के अनुसार ही अपना आशीष प्रदान करते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कल्पवृक्ष इच्छाओं के अनुसार ही फल देता है और ऊँच-नीच में भेदभाव नहीं बरतता।

तात्पर्य : भगवद्गीता (४.११) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्—जो जिस तरह मेरी शरण में आता है, तदनुसार ही मैं उसे पुरस्कार प्रदान करता हूँ। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णे 'नित्य-दास'—प्रत्येक प्राणी कृष्ण का नित्य दास है। जीव अपनी सेवा के अनुसार कृष्ण से स्वतः आशीर्वाद प्राप्त करता है, क्योंकि वे यह भेदभाव नहीं बरतते कि “यह व्यक्ति मुझसे घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा है और यह वह है, जिसे मैं नहीं चाहता।” कृष्ण हर एक को अपनी शरण में आने की सलाह देते हैं (सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज)। भगवान् से जो सम्बन्ध बनता है, वह उनके प्रति की गई सेवा तथा शरणागति के अनुपात में होता है। इस तरह सारे विश्व में जीव स्वयं ही अपने बड़े या छोटे पद का चुनाव करते हैं। यदि कोई भगवान् को आदेश देना चाहता है कि भगवान् उसे कुछ दें तो वह अपनी इच्छानुकूल आशीर्वाद प्राप्त करता है। यदि वह चाहता है कि स्वर्ग लोक में स्थान प्राप्त करे तो उसे वह स्थान मिलता है और यदि

वह पृथ्वी पर ही शूकर के रूप में बना रहना चाहता है, तो भगवान् उसकी वह इच्छापूर्ति भी करते हैं। अतएव मनुष्य का पद उसकी इच्छाओं से निश्चित होता है। हमारे जीवन में उच्च या निम्न पदों के लिए भगवान् उत्तरदायी नहीं हैं। इसकी और अधिक व्याख्या स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१.२५) में की है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

कुछ लोग स्वर्गलोक भेजे जाना चाहते हैं, कुछ पितृलोक और कुछ इसी धरती पर बने रहना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई भगवद्धाम लौट जाने का इच्छुक होता है, तो उसे वहाँ भी भेज दिया जा सकता है। किसी विशेष भक्त की माँगों के अनुसार भगवत्कृपा से उसे फल प्राप्त होता है। भगवान् यह सोचकर भेदभाव नहीं बरतते “यह व्यक्ति मेरे अनुकूल है और यह मेरे अनुकूल नहीं है” अपितु वे हर एक की इच्छापूर्ति करते हैं। अतएव शास्त्रों का आदेश है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

“कोई चाहे निष्काम हो या सकाम या मुक्ति प्राप्त करने का इच्छुक हो, हर एक व्यक्ति को चाहिए कि पूर्ण सिद्धि के लिए, जिसकी चरम परिणति कृष्णभावनामृत में होती है, सभी तरह से भगवान् की पूजा करे।” (*भागवत* २.३.१०) भगवान् की सेवा में पूरी तरह से लगे रहने पर हर एक को अपने पद के अनुसार मनवांछित फल मिलता है चाहे वह भक्त हो, कर्मी हो या ज्ञानी।

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे

कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात् ।

कृत्वात्मसात्सुरर्षिणा भगवन्गृहीतः

सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; जनम्—सामान्य व्यक्ति को; निपतितम्—गिरा हुआ; प्रभव—भौतिक जगत के; अहि-कूपे—सर्पों से पूर्ण अंधे कुएँ में; काम-अभिकामम्—इन्द्रियविषयों की कामना; अनु—अनुसरण करते हुए; यः—जो व्यक्ति; प्रपतन्—(इस अवस्था में) गिर कर; प्रसङ्गात्—बुरी संगति के कारण या भौतिक इच्छाओं की अधिकाधिक संगति से; कृत्वा आत्मसात्—मुझको (अपने [नारद] जैसे आध्यात्मिक गुण प्राप्त करने के लिए) वाध्य करके; सुर-ऋषिणा—महान् सन्त पुरुष (नारद) द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; गृहीतः—स्वीकार; सः—वह व्यक्ति; अहम्—मैं; कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; विसृजे—त्याग सकता हूँ; तव—तुम्हारी; भृत्य-सेवाम्—शुद्ध भक्त की सेवा।

हे भगवान्, मैं एक-एक करके भौतिक इच्छाओं की संगति में आने से सामान्य लोगों का अनुगमन करते हुए सर्पों के अन्धे कुएँ में गिरता जा रहा था। किन्तु आपके दास नारद मुनि ने कृपा करके मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया और मुझे यह शिक्षा दी कि इस दिव्य पद को किस तरह प्राप्त किया जाये। अतएव मेरा पहला कर्तव्य है कि मैं उनकी सेवा करूँ। भला मैं उनकी यह सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ?

तात्पर्य : जैसाकि बाद के श्लोकों से पता चलेगा, यद्यपि भगवान् ने प्रह्लाद महाराज को सीधे मनवांछित वर माँगने के लिए कहा, किन्तु उन्होंने भगवान् की इस भेंट को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने उलट कर भगवान् से यह प्रार्थना की कि वे अपने दास नारद मुनि की सेवा में उसे लगा रहने दें। यह शुद्ध भक्त का लक्षण है। मनुष्य को चाहिए कि पहले गुरु की सेवा करे। ऐसा नहीं होता कि कोई अपने गुरु को छोड़कर भगवान् की सेवा करने की इच्छा करे। वैष्णव के लिए यह सिद्धान्त नहीं है। नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—

तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास।

जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष ॥

मनुष्य को सीधे भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के दास का दासानुदास बने (*गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*)। भगवान् तक पहुँचने की यही विधि है। पहले गुरु की सेवा की जानी चाहिए जिससे उनकी कृपा से भगवान् की सेवा के निकट जाया जा सके। रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा था— *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—गुरु की कृपा से और फिर कृष्ण की कृपा से भक्ति का बीज प्राप्त किया जा सकता है। सफलता का यही रहस्य है। पहले गुरु को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए और तब भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी कहते हैं— *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो*। मनुष्य को मनगढ़त ज्ञान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। पहले उसे गुरु की सेवा करने के लिए तैयार होना होता है और जब वह योग्य बन जाता है, तो उसे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने का स्वतः अवसर प्राप्त कराया जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने प्रस्ताव रखा कि उन्हें नारद मुनि की सेवा में

लगे रहने दिया जाये। यही सही निष्कर्ष है। अतएव उन्होंने कहा—*सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्*—भला मैं अपने उन गुरु की सेवा करना कैसे त्याग दूँ जिन्होंने मुझ पर इस तरह से कृपा की कि मैं अब आपको अपने समक्ष देख रहा हूँ? प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपने गुरु नारद मुनि की सेवा में लगे रहें।

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च

मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।

खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-

स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मत्-प्राण-रक्षणम्—मेरे जीवन की रक्षा करके; अनन्त—हे अनन्त असीम दिव्य गुणों के आगार; पितुः—मेरे पिता का; वधः—तथा वध; मन्ये—मानता हूँ; स्व-भृत्य—आपके अनन्य दासों का; ऋषि-वाक्यम्—तथा नारद मुनि के शब्दों को; ऋतम्—सत्य; विधातुम्—सिद्ध करने के लिए; खड्गम्—तलवार; प्रगृह्य—हाथ में धारण करके; यत्—चूँकि; अवोचत्—मेरे पिता ने कहा; असत्-विधित्सुः—बड़े ही अपवित्र ढंग से कर्म करने की इच्छा से; त्वाम्—तुमको; ईश्वरः—कोई परम नियामक; मत्-अपरः—मेरी अपेक्षा दूसरा कोई; अवतु—बचा ले; कम्—तुम्हारा सिर; हरामि—अब मैं छिन्न कर दूँगा।

हे भगवान्, हे दिव्य गुणों के असीम आगार, आपने मेरे पिता हिरण्यकशिपु का वध किया है और मुझे उनकी तलवार से बचा लिया है। उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा था “यदि मेरे अतिरिक्त कोई परम नियन्ता है, तो वह तुम्हें बचाए। अब मैं तुम्हारे सिर को तुम्हारे शरीर से काटकर अलग कर दूँगा।” अतएव मैं सोच रहा हूँ कि मुझे बचाने तथा उन्हें मारने—दोनों ही कार्यों में आपने अपने भक्त के वचनों को सत्य करने के लिए ही कर्म किया है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

भगवान् निस्सन्देह समदर्शी हैं। न तो कोई उनका मित्र है, न कोई उनका शत्रु किन्तु मनुष्य भगवान् से लाभ की कामना करते हैं, अतएव भगवान् उन्हें देने में अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। विभिन्न जीवों के उच्च तथा निम्न पद उनकी इच्छाओं के अनुसार होते हैं, क्योंकि भगवान् समदर्शी होने के कारण हर एक की इच्छापूर्ति करते हैं। हिरण्यकशिपु का वध तथा प्रह्लाद महाराज की रक्षा का होना भी परम नियन्ता

के कार्यकलापों के इसी नियम के अनुसार हैं। जब प्रह्लाद की माता हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु, नारद मुनि के संरक्षण में थीं तो उन्होंने अपने पुत्र की शत्रु से रक्षा के लिए प्रार्थना भी की थी और तब नारद मुनि ने आश्वासन दिया था कि प्रह्लाद महाराज की शत्रु के हाथों से सदैव रक्षा होती रहेगी। अतः जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद का वध करने जा रहा था तो भगवान् ने *भगवद्गीता* में दिये गये अपने वचन की पूर्ति करने (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*) तथा नारद के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिए प्रह्लाद महाराज को बचा लिया। भगवान् एक करनी से कई उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं। इस तरह हिरण्यकशिपु का वध तथा प्रह्लाद की रक्षा का कार्य भगवान् के भक्त की सत्यता तथा भगवान् की स्वामिभक्ति को सिद्ध करने के लिए एकसाथ किये गये। भगवान् अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए कार्य करते हैं अन्यथा उन्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। जैसाकि वैदिक भाषा में कहा गया है—*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*—भगवान् को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, क्योंकि सब कुछ उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा किया जाता है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। भगवान् की विविध शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा सब कुछ सम्पन्न होता है। अतएव जब वे स्वयं कुछ करते हैं, तो वह केवल अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए होता है। भगवान् *भक्तवत्सल* कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने निष्ठापूर्ण सेवक पर अत्यधिक कृपा करते हैं।

एकस्त्वमेव जगदेतममुष्य यत्त्व-

माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।

सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं

नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; त्वम्—तुम; एव—एकमात्र; जगत्—दृश्य जगत; एतम्—यह; अमुष्य—उस (समग्र ब्रह्माण्ड) का; यत्—चूँकि; त्वम्—तुम; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—अन्त में; पृथक्—अलग से; अवस्यसि—विद्यमान हो (कारण रूप में); मध्यतः च—बीच में भी (आदि तथा अन्त के मध्य में); सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; गुण-व्यतिकरम्—प्रकृति के तीनों गुणों का रूपान्तर; निज-मायया—अपनी निजी बहिरंगा शक्ति से; इदम्—यह; नाना इव—अनेक किस्मों की तरह; तैः—उनके (गुणों के) द्वारा; अवसितः—अनुभव किया; तत्—वह; अनुप्रविष्टः—प्रवेश करके।

हे भगवान्, अकेले आप ही अपने आपको विराट् जगत के रूप में प्रकट करते हैं, क्योंकि आप सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे, संहार के बाद भी विद्यमान रहते हैं और आदि तथा अन्त के बीच में पालक होते हैं। यह सब प्रकृति के तीनों गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से आपकी

बहिरंगा शक्ति द्वारा किया जाता है। अतएव भीतर तथा बाहर जो कुछ भी विद्यमान है, वह केवल आप हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ब्रह्म-संहिता (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन गोविन्द भगवान् की पूजा करता हूँ जो अपने किसी एक अंश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु तक में प्रवेश करते हैं और इस प्रकार अपनी अनन्त शक्ति को सारी भौतिक सृष्टि में प्रकट करते हैं।” इस विराट जगत की सृष्टि करने के लिए गोविन्द भगवान् अपनी बहिरंगा शक्ति का विस्तार करते हैं और इस प्रकार वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के भीतर, यहाँ तक कि परमाणु में भी प्रविष्ट कर जाते हैं। इस प्रकार वे पूरी भौतिक सृष्टि में विद्यमान रहते हैं। इसलिए भगवान् द्वारा अपने भक्तों के पालन में जो कार्यकलाप सम्पन्न किये जाते हैं, वे भौतिक न होकर दिव्य होते हैं। वे प्रत्येक वस्तु में कार्य-कारण के रूप में विद्यमान रहते हैं फिर भी वे पृथक् होकर इस जगत के परे रहते हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (९.४) में भी हुई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् की शक्ति का विस्तार मात्र है, प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर टिकी है फिर भी वे सृजन, पालन तथा संहार से परे पृथक् रहते हैं। भाँति-भाँति की सृष्टि उनकी बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न है। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं, अतएव सारी वस्तुएँ एक हैं (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) अतएव परब्रह्म या कृष्ण के बिना कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का अन्तर यही है कि उनकी भौतिक शक्ति भौतिक जगत में, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति आध्यात्मिक जगत में प्रकट होती है। फिर भी दोनों शक्तियों का सम्बन्ध परमेश्वर से होता है, अतएव उच्च स्तर पर भौतिक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक शक्ति होती

है। जिस शक्ति में भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति नहीं हो पाती वह भौतिक कहलाती है, अन्यथा प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। इसीलिए प्रह्लाद प्रार्थना करते हैं—*एकस्त्वमेव जगदेतम्*—आप सब कुछ हैं।

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वैतदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वा—या तो; इदम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; सत्-असत्—कार्य कारण से युक्त (आप कारण हैं और आपकी शक्ति कार्य है); ईश—हे ईश्वर परम नियन्ता; भवान्—आप; ततः—ब्रह्माण्ड से; अन्यः—पृथक् स्थित (भगवान् सृष्टि करते हैं फिर भी वे सृष्टि से पृथक् रहते हैं); माया—शक्ति जो पृथक् सृष्टि प्रतीत होती है; यत्—जिससे; आत्म-पर-बुद्धिः—अपने तथा पराये की धारणा; इयम्—यह; हि—निस्सन्देह; अपार्था—अर्थहीन (आप ही सब कुछ हैं अतएव 'मेरा' तथा 'तेरा' समझ पाने की आशा नहीं है); यत्—जिस वस्तु से; यस्य—जिसका; जन्म—सृजन; निधनम्—संहार; स्थितिः—पालन; ईक्षणम्—अभिव्यक्ति; च—तथा; तत्—वह; वा—या; एतत्—यह; एव—निश्चय ही; वसुकाल-वत्—पृथ्वी होने के गुण तथा उससे आगे पृथ्वी के सूक्ष्म तत्त्व (गन्ध) के समान; अष्टि-तर्वोः—बीज (कारण) तथा वृक्ष (कारण का कार्य)।

हे भगवान्, हे परमेश्वर, यह समग्र सृष्टि आपके द्वारा उत्पन्न है और विराट जगत आपकी शक्ति का परिणाम है। यद्यपि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है फिर भी आप अपने को उससे पृथक् रखते हैं। 'मेरा' तथा 'तुम्हारा' की धारणा निश्चय ही एक प्रकार का मोह (माया) है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आपसे उद्भूत होने के कारण आपसे भिन्न नहीं है। निस्सन्देह, विराट जगत आपसे अभिन्न है और संहार भी आपके द्वारा ही किया जाता है। आप तथा ब्रह्माण्ड के बीच का यह सम्बन्ध बीज तथा वृक्ष अथवा सूक्ष्म कारण तथा स्थूल अभिव्यक्ति के उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.१०) में भगवान् कहते हैं—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

“हे पृथापुत्र! तुम यह जान लो कि मैं सारे जीवों का मूल बीज हूँ।” वैदिक वाङ्मय में कहा गया है—*ईशावास्यमिदं सर्वम्, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म*। यह सारी वैदिक जानकारी बताती है कि केवल एक ईश्वर है और उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मायावादी विचारक इसकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं, लेकिन भगवान् इस सत्य पर बल देते हैं कि वे सब कुछ होते

हुए भी प्रत्येक वस्तु से पृथक् रहते हैं। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का दर्शन है, जो *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* कहलाता है। प्रत्येक वस्तु एक, अर्थात् परमेश्वर है फिर भी प्रत्येक वस्तु उनसे भिन्न है। एकत्व तथा भेद (अन्तर) की यही विचारधारा है।

यहाँ पर *वसुकालवद् अष्टितर्वोः* का उदाहरण दिया गया है, जिसे समझना अत्यन्त आसान है। प्रत्येक वस्तु काल में विद्यमान है फिर भी काल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—वर्तमान, भूत तथा भविष्य। ये तीनों एक हैं। प्रतिदिन हमें काल का अनुभव प्रातः दोपहर तथा संध्या के रूप में होता रहता है और यद्यपि प्रातः दोपहर से भिन्न है और दोपहर संध्या से भिन्न है फिर भी उन्हें सबको मिलाकर एक माना जाता है। काल भगवान् की शक्ति है, लेकिन भगवान् इस काल से पृथक् रहते हैं। प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार काल द्वारा होता है, लेकिन भगवान् का न तो आदि है और न अन्त। वे *नित्यः शाश्वतः* हैं। प्रत्येक वस्तु वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की इन अवस्थाओं से होकर गुजरती है फिर भी भगवान् सदैव वही रहते हैं। इस तरह निस्सन्देह, भगवान् तथा विराट जगत में अन्तर है, किन्तु वस्तुतः वे पृथक् नहीं हैं। उन्हें पृथक् समझना अविद्या है।

किन्तु असली एकत्व मायावादियों की धारणा के तुल्य नहीं है। वास्तविक ज्ञान तो यह है कि सारे अन्तर भगवान् की शक्ति द्वारा प्रकट होते हैं। बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, जिसमें तना, शाखें, पत्तियाँ, फूल तथा फल की विविधता दिखती है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—*केशव तुया जगत विचित्र*—हे भगवान्! आपकी सृष्टि विविधतापूर्ण है। ये विविधताएँ एक होते हुए भी भिन्न हैं। यही *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व दर्शन* है। *ब्रह्म-संहिता* में जो निष्कर्ष दिया हुआ है, वह इस प्रकार है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं है, क्योंकि वे समस्त कारणों के प्रधान कारण हैं।” चूँकि भगवान् परम कारण हैं, अतएव प्रत्येक वस्तु उन्हीं जैसी है, किन्तु जब हम उनकी विविधताओं पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि एक वस्तु दूसरे से भिन्न है।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक वस्तु तथा दूसरी वस्तु के बीच कोई अन्तर नहीं होता फिर भी उनकी किस्मों में अन्तर होता है। इस प्रसंग में मध्वाचार्य सामान्य वृक्ष तथा अग्नि में पड़े वृक्ष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि दोनों वृक्ष एक हैं, लेकिन काल के कारण वे भिन्न दिखते हैं। काल भगवान् के अधीन है इसलिए भगवान् काल से भिन्न हैं। फलस्वरूप प्रगत भक्त सुख तथा दुख में अन्तर नहीं मानता जैसाकि श्रीमद्भागवत (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

जब भक्त तथाकथित दुख की स्थिति में होता है, तो वह इसे भगवान् का उपहार या आशीष मानता है। जब भक्त जीवन की किसी भी स्थिति में इसप्रकार सदा कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, तो उसे मुक्तिपदे स दायभाक् अर्थात् भगवद्धाम लौटने का पूर्ण सुपात्र कहा जाता है। दायभाक् शब्द का अर्थ है 'उत्तराधिकार'। पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। इसी प्रकार जब भक्त द्वैत से रहित होकर पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह निश्चित होता है कि वह भगवद्धाम जाएगा जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है।

न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये

शेषेत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।

योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र-

स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युद्धे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न्यस्य—फेंककर; इदम्—यह; आत्मनि—अपने आप में; जगत्—आपके द्वारा उत्पन्न विराट संसार; विलय-अम्बु-मध्ये—कारणार्णव में, जिसमें प्रत्येक वस्तु सुरक्षित शक्ति के रूप में संरक्षित रहती है; शेषे—सोये हुए के समान कर्म करते हो; आत्मना—अपने से; निज—अपना; सुख-अनुभवः—आध्यात्मिक आनन्द की अवस्था का अनुभव; निरीहः—कुछ भी न करते हुए प्रतीत होना; योगेन—योग शक्ति के द्वारा; मीलित-दृक्—बन्द आँखें; आत्म—अपने प्राकट्य द्वारा; निपीत—रोका गया; निद्रः—जिसकी नींद; तुर्ये—दिव्य अवस्था में; स्थितः—अपने को रखते हुए; न—नहीं; तु—लेकिन; तमः—सोने की भौतिक अवस्था; न—न तो; गुणान्—भौतिक गुण; च—तथा; युद्धे—अपने को लगाते हो।

हे परमेश्वर, संहार के बाद सृजनात्मक शक्ति आप में स्थित रखी जाती है और आप अपनी अधखुली आँखों से सोते प्रतीत होते हैं। किन्तु तथ्य तो यह है कि आप एक सामान्य व्यक्ति की भाँति सोते नहीं, क्योंकि आप भौतिक जगत की सृष्टि के परे सदैव दिव्य अवस्था में रहते हैं और सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में आप भौतिक

वस्तुओं को छुए बिना अपनी दिव्य स्थिति में बने रहते हैं। यद्यपि आप सोते प्रतीत होते हैं, किन्तु यह सोना अविद्या की निद्रा से पृथक् होता है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में स्पष्ट बताया गया है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने अंश महा-विष्णु के रूप में कारणार्णव में शयन करते हैं जिसके दिव्य शरीर के रोम-कूपों से सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जो चिर योगनिद्रा धारण किये रहते हैं।” *आदि पुरुष*—कृष्ण या गोविन्द अपने को महाविष्णु के रूप में विस्तारित करते हैं। इस विराट जगत के संहार के पश्चात् वे स्वयं को दिव्य आनन्द में रखते हैं। *योग निद्राम्* शब्द भगवान् के प्रसंग में व्यवहृत हुआ है। मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए यह निद्रा हमारी उस निद्रा के समान नहीं है, जो तमोगुणी है। भगवान् सदैव अध्यात्म में स्थित रहते हैं। वे *सच्चिदानन्द* हैं, इसलिए वे सामान्य मनुष्यों की भाँति निद्रा द्वारा विचलित नहीं होते। यह समझना होगा कि भगवान् सभी अवस्थाओं में दिव्य आनन्द में रहते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने संक्षेप में कहा है कि भगवान् *तूर्यस्थितः* हैं—सदैव अध्यात्म (तुरीयावस्था) में स्थित रहते हैं। अध्यात्म में *जागरणनिद्रासुषुप्ति* जागृति, निद्रा तथा घोर निद्रा जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

योग का अभ्यास महाविष्णु की योगनिद्रा के समान है। योगियों को सलाह दी जाती है कि वे अपनी आँखें अधखुली रखें, किन्तु यह दशा निद्रा नहीं होती, यद्यपि आधुनिक युग में नकली योगी अपने-अपने कथित योग का प्रदर्शन सोकर करते हैं। शास्त्र में योग को *ध्यानावस्थित* कहा गया है, जो पूर्ण ध्यान की स्थिति है, किन्तु यह ध्यान भगवान् पर केन्द्रित ध्यान है। *ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा*—मन को सदैव भगवान् के चरणकमलों पर स्थित करना चाहिए। योगाभ्यास का अर्थ सोना (निद्रा) कदापि नहीं है। मन को सक्रियरूप से भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए; तभी योगाभ्यास सफल होगा।

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
 सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
 अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
 नाभेरभूत्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस भगवान् का; एव—निश्चय ही; ते—तुम्हारा; वपुः—शरीर; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); निज-काल-शक्त्या—
 शक्तिशाली काल द्वारा; सञ्चोदित—क्षुब्ध; प्रकृति-धर्मणः—उनका जिनसे प्रकृति के तीनों गुण; आत्म-गूढम्—आप में निहित;
 अम्भसि—कारणार्णव के जल में; अनन्त-शयनात्—अनन्त (जो आपका अन्य रूप है) नामक शय्या से; विरमत्-समाधेः—
 समाधि से जगकर; नाभेः—नाभि से; अभूत्—प्रकट हुआ; स्व-कणिका—बीज से; वट-वत्—महान् वट वृक्ष की तरह; महा-
 अब्जम्—संसार का महान् कमल (जो इसी तरह उगा है)।

यह विराट भौतिक जगत भी आपका ही शरीर है। यह पदार्थ का पिंड आपकी काल शक्ति द्वारा क्षुब्ध होता है और इस तरह प्रकृति के तीनों गुण प्रकट होते हैं। तब आप शेष या अनन्त की शय्या से जागते हैं और आपकी नाभि से एक क्षुद्र दिव्य बीज उत्पन्न होता है। इसी बीज से विराट जगत का कमल पुष्प प्रकट होता है ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक छोटे बीज से विशाल वट वृक्ष उगता है।

तात्पर्य : महाविष्णु के तीन विभिन्न रूपों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है—ये हैं कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु जो सृष्टि तथा पालन के उद्गम हैं। महाविष्णु से गर्भोदकशायी विष्णु उत्पन्न होते हैं जिनसे क्रमशः क्षीरोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है। इस प्रकार महाविष्णु ही गर्भोदकशायी विष्णु के मूल कारण हैं और गर्भोदकशायी विष्णु से कमल निकलता है, जिसमें से ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल कारण विष्णु हैं। फलस्वरूप विराट जगत विष्णु से भिन्न नहीं है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.८) में हुई है जहाँ कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—“मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्रोत हूँ। मुझी से प्रत्येक वस्तु उद्भूत है।” गर्भोदकशायी विष्णु कारणोदकशायी विष्णु के अंश हैं, जो स्वयं संकर्षण के अंश हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं (*सर्वकारणकारणम्*)। निष्कर्ष यह निकला कि भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगत परमेश्वर के शरीर माने जाते हैं। हम यह समझ सकते हैं कि भौतिक शरीर की उत्पत्ति आध्यात्मिक शरीर से होती है, अतएव वह आध्यात्मिक शरीर का अंश (विस्तार) है। जब मनुष्य आध्यात्मिक कर्म करता है, तो

उसका समग्र भौतिक शरीर आध्यात्मीकृत हो जाता है। इसी प्रकार जब इस भौतिक जगत में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार होता है, तो समूचा संसार आध्यात्मीकृत हो जाता है। जब तक इसकी अनुभूति नहीं होती तब तक हम इस भौतिक जगत में रहते हैं, किन्तु ज्योंही हम पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो हम इस भौतिक जगत में न रहकर आध्यात्मिक जगत में रहते हैं।

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-

स्त्वां बीजमात्मनि ततं स बहिर्विचिन्त्य ।

नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो

जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तत्-सम्भवः—उस कमल से उत्पन्न; कविः—सृष्टि के सूक्ष्म कारण को समझने वाला (ब्रह्मा); अतः—उस (कमल) से; अन्यत्—अन्य कुछ; अपश्यमानः—देख सकने में अक्षम; त्वाम्—आपको; बीजम्—कमल के कारण को; आत्मनि—अपने में; ततम्—विस्तार कर लिया; सः—उसने (ब्रह्मा); बहिः विचिन्त्य—अपने को बाहरी मानकर; न—नहीं; अविन्दत्—(आपको) समझा; अब्द-शतम्—देवताओं के अनुसार एक सौ वर्षों तक (देवताओं का एक दिन हमारे छः मास के तुल्य); अप्सु—जल के भीतर; निमज्जमानः—गोता लगाकर; जाते अङ्कुरे—जब बीज अंकुरित होकर लता रूप में प्रकट होता है; कथम्—कैसे; उह—हे भगवान्; उपलभेत—कोई देख सकता है; बीजम्—पहले से फलित बीज को।

उस विशाल कमल पुष्प से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए किन्तु उन्हें उस कमल के सिवाय कुछ भी नहीं दिखा। अतएव आप को बाहर स्थित जानकर उन्होंने जल में गोता लगाया और वे एक सौ वर्षों तक उस कमल के उद्गम को खोजने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु उन्हें आपका कोई पता नहीं चल पाया क्योंकि जब बीज फलीभूत होता है, तो असली बीज नहीं दिख पाता।

तात्पर्य : यह विराट जगत का वर्णन है। इस जगत का विकास बीज के फलीभूत होने के समान है। जब रुई से धागे बन जाते हैं, तो रुई नहीं दिखती और जब धागों से कपड़ा बुना जाता है, तो धागे नहीं दिखते। इसी प्रकार यह कथन बिल्कुल सही है कि जब गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न बीज विराट विश्व के रूप में प्रकट हो गया तो कोई यह नहीं समझ सकता था कि इस विराट विश्व की उत्पत्ति का कारण क्या था। आधुनिक विज्ञानियों ने सृष्टि के उद्गम की विवेचना “पिंड सिद्धान्त” (चंक थ्योरी) से करने का प्रयास किया है, लेकिन यह कोई नहीं बता सकता कि ऐसा पिंड किस प्रकार फटा होगा। किन्तु वैदिक वाङ्मय स्पष्ट बताता है कि सम्पूर्ण भौतिक शक्ति परमेश्वर की चितवन से प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा क्षुब्ध हुई। दूसरे शब्दों में, “पिंड सिद्धान्त” के अनुसार पिंड का फटना

भगवान् द्वारा किया गया। अतएव मनुष्य को चाहिए कि परम कारण विष्णु को समस्त कारणों का कारण स्वीकार कर ले।

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आश्रितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); तु—लेकिन; आत्म-योनिः—बिना माता के उत्पन्न (सीधे पिता विष्णु से उत्पन्न); अति-विस्मितः—अत्यधिक चकित (अपने जन्म का उद्गम न पाकर); आश्रितः—आसीन; अब्जम्—कमल; कालेन—काल के द्वारा; तीव्र-तपसा—घोर तपस्या द्वारा; परिशुद्ध-भावः—पूर्णतया शुद्ध होकर; त्वाम्—आपको; आत्मनि—अपने शरीर में; ईश—हे ईश्वर; भुवि—पृथ्वी के भीतर; गन्धम्—गन्ध; इव—सदृश; अति-सूक्ष्मम्—अत्यन्त सूक्ष्म; भूत-इन्द्रिय—तत्त्वों तथा इन्द्रियों से बना; आशय-मये—तथा जो इच्छाओं से पूर्ण (मन); विततम्—फैला हुआ; ददर्श—देखा।

आत्मयोनि के नाम से विख्यात अर्थात् बिना माता के उत्पन्न ब्रह्माजी को आश्चर्य हुआ। अतएव उन्होंने कमल पुष्प की शरण ग्रहण की और जब वे सैकड़ों वर्षों तक कठोर तपस्या करने के बाद शुद्ध हुए तो वे देख पाये कि समस्त कारणों के कारण भगवान् उनके अपने पूरे शरीर तथा इन्द्रियों में उसी तरह व्याप्त थे जिस प्रकार गन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी पृथ्वी में अनुभव की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर अहं ब्रह्मास्मि के रूप में आत्म-साक्षात्कार के कथन की विवेचना की गई है, जिसकी व्याख्या मायावादी दर्शन के अनुसार “मैं परमेश्वर हूँ” के रूप में की जाती है। परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के आदि बीज हैं (जन्माद्यस्य यतः । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते)। इस प्रकार भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं यहाँ तक कि हमारे शरीरों में भी, क्योंकि ये भौतिक शक्ति से बने हैं, जो भगवान् की भिन्ना शक्ति है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि चूँकि परमेश्वर हमारे शरीर में व्याप्त हैं और चूँकि व्यष्टि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, अतएव प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)। ब्रह्मा को यह अनुभूति शुद्ध होने के बाद हुई और यह हर एक के लिए सम्भव है। जब मनुष्य अहं ब्रह्मास्मि के पूर्णतया ज्ञान में रहता है, तो वह सोचता है “मैं परमेश्वर का अंश हूँ, मेरा शरीर उनकी भौतिक शक्ति से बना है, अतएव मेरा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है यद्यपि फिर भी परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है, वह मुझसे पृथक् है।” अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व का यही दर्शन है। यहाँ पर पृथ्वी के भीतर गन्ध का उदाहरण

दिया गया है। पृथ्वी में गन्ध है और रंग हैं, किन्तु उन्हें कोई देख नहीं सकता। वास्तव में हम देखते हैं कि जब पृथ्वी से फूल उगते हैं, तो वे विभिन्न रंगों एवं सुगन्धों वाले दिखते हैं। निश्चय ही फूलों ने इन्हें पृथ्वी से प्राप्त किया होगा, यद्यपि ये हमें पृथ्वी में दिखते नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा हमारे शरीर तथा आत्मा में विस्तार करते हैं, यद्यपि हम उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु एक बुद्धिमान मनुष्य परमेश्वर को सर्वत्र व्याप्त देख सकता है— *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*— भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों से ब्रह्माण्ड के भीतर तथा परमाणु के भीतर रहते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति के लिए भगवान् का असली दृश्य यही है। आदिजन्मा ब्रह्मा अपनी तपस्या के कारण अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति बने और तब उन्हें यह अनुभूति हुई। अतएव हमें उन ब्रह्मा से सारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो अपनी तपस्या के कारण सिद्ध बने।

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-

नासाद्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।

मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं

दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सहस्र—हजार; वदन—मुख; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः—सिर; कर—हाथ; ऊरु—जाँघें; नास-आद्य—नाक इत्यादि.; कर्ण—कान; नयन—आँखें; आभरण—तरह-तरह के गहनों; आयुध—तरह-तरह के हथियारों से; आढ्यम्—लैस; माया-मयम्—असीम शक्ति द्वारा प्रदर्शित; सत्-उपलक्षित—विभिन्न लक्षणों में प्रकट होकर; सन्निवेशम्—एकसाथ मिलकर; दृष्ट्वा—देख कर; महा-पुरुषम्—भगवान् को; आप—प्राप्त किया; मुदम्—दिव्य आनन्द; विरिञ्चः—ब्रह्मा ने।

तब ब्रह्माजी ने आपको हजारों मुखों, पाँवों, सिरों, हाथों, जाँघों, नाकों, कानों तथा आँखों से युक्त देखा। आप भलीभाँति वस्त्र धारण किये थे और नाना प्रकार के आभूषणों तथा आयुधों से सुशोभित थे। आपको विष्णु रूप में देखकर तथा आपके दिव्य लक्षणों एवं अधोलोकों से फैले हुए आपके चरणों को देखकर ब्रह्माजी को दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : परम शुद्ध होने के कारण ब्रह्माजी भगवान् को उनके मूल विष्णु रूप में देख सके जिनके हजारों मुख तथा रूप थे। यह विधि आत्म-साक्षात्कार कहलाती है। असलि आत्म-साक्षात्कार भगवान् के निर्विशेष तेज का दर्शन नहीं है, अपितु भगवान् के दिव्य रूप का साक्षात् दर्शन है। जैसाकि यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है, ब्रह्माजी ने भगवान् को *महापुरुष* के रूप में देखा। अर्जुन ने भी कृष्ण को इसी रूप में देखा था। अतएव उसने भगवान् से कहा— *परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् पुरुषं शाश्वतं*

दिव्यम्—आप परब्रह्म, परम धाम, पवित्र करने वाले, परम सत्य नित्य दैवी पुरुष हैं। भगवान् *परम पुरुष* अर्थात् सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। *पुरुषं शाश्वतम्*—शाश्वत परम भोक्ता हैं। ऐसा नहीं है कि निर्विशेष ब्रह्म रूप धारण करता है, अपितु निर्विशेष ब्रह्मज्योति भगवान् के परम रूप का उद्भास है। ब्रह्मा शुद्ध होने पर भगवान् के परम रूप को देख पाये। निर्विशेष ब्रह्म के सिर, पाँव, हाथ, नाक, कान नहीं हो सकते। ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि ये भगवान् के रूप के लक्षण हैं।

मायामयम् शब्द का अर्थ है “आध्यात्मिक ज्ञान”। इसकी व्याख्या मध्वाचार्य ने की है—*मायामयम् ज्ञानस्वरूपम्*। भगवान् के रूप को बताने वाले इस *मायामयम्* शब्द का अर्थ “मोह” नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत भगवान् का रूप वास्तविक है और इस रूप का दर्शन पूर्ण ज्ञान का प्रतिफल है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। ज्ञानवान्* शब्द का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसे पूर्ण ज्ञान हो। ऐसा व्यक्ति भगवान् का दर्शन कर सकता है और इसलिए वह उनकी शरण में जाता है। मुख, नाक, कान आदि प्रतीकों द्वारा व्यक्त भगवान् का रूप नित्य हैं। ऐसे रूप के बिना कोई आनन्दमय नहीं हो सकता। किन्तु भगवान् *सच्चिदानन्द-विग्रह* हैं जैसाकि शास्त्र में कहा गया है (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*)। जब कोई पूर्ण दिव्य आनन्द को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् के परम रूप (*विग्रह*) को देख सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

गन्धाख्या देवता यद्वत् पृथिवीं व्याप्य तिष्ठति।

एवं व्याप्तं जगद् विष्णुं ब्रह्मात्मस्थं ददर्श ह ॥

ब्रह्मा ने देखा कि जिस प्रकार सुगन्धियाँ तथा रंग सारी पृथ्वी में फैलते हैं उसी प्रकार भगवान् सूक्ष्म रूप में विराट विश्व में व्याप्त हैं।

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं हि बिभ्रद्
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांश्च रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उन ब्रह्मा को; भवान्—आप; हय-शिरः—घोड़े का शिर तथा गर्दन वाले; तनुवम्—अवतार; हि—निस्सन्देह; बिभ्रद्—स्वीकार करते हुए; वेद-द्रुहौ—दो असुर जो वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे; अति-बलौ—अत्यन्त बलशाली; मधु-कैटभ-आख्यौ—मधु तथा कैटभ नाम से विख्यात; हत्वा—मारकर; अनयत्—प्रदान किया; श्रुति-गणान्—सारे भिन्न-भिन्न वेद

(साम, यजुः, ऋग तथा अथर्व); च—तथा; रजः तमः च—रजो तथा तमो गुणों द्वारा अंकित करके; सत्त्वम्—शुद्ध दिव्य सतो गुण; तव—तुम्हारा; प्रिय-तमाम्—सर्वाधिक प्रिय; तनुम्—रूप का (हयग्रीव); आमनन्ति—आदर करते हैं ।

हे भगवान्, जब आप घोड़े का शिर धारण करके हयग्रीव रूप में प्रकट हुए तो आपने रजो तथा तमो गुणों से पूर्ण मधु तथा कैटभ नामक दो असुरों का संहार किया। फिर आपने ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान प्रदान किया। इसी कारण से सारे महान् ऋषिगण आपके रूपों को दिव्य अर्थात् भौतिक गुणों से अछूता मानते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने दिव्य रूप में अपने भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है भगवान् ने हयग्रीव रूप धारण करके मधु तथा कैटभ नामक असुरों का वध किया, जब उन्होंने ब्रह्माजी पर आक्रमण किया था। आधुनिक असुर यह सोचते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन नहीं था, किन्तु श्रीमद्भागवत से हमें ज्ञात होता है कि भगवान् ने जिस प्रथम सजीव प्राणी को जन्म दिया वह ब्रह्मा था, जो वैदिक ज्ञान से ओत-प्रोत है। दुर्भाग्यवश जिन्हें वैदिक ज्ञान वितरित करने का भार सौंपा गया है, यथा कृष्णभावनामृत का प्रचार करने वाले भक्त, उन पर कभी-कभी असुरों द्वारा आक्रमण किये जा सकते हैं, किन्तु भक्तों को आश्वस्त रहना चाहिए कि ऐसे आसुरी आक्रमण से उनका बाल बाँका भी नहीं होगा, क्योंकि भगवान् उन्हें सुरक्षा प्रदान करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। वेद वह ज्ञान प्रदान करते हैं जिसके द्वारा हम भगवान् को समझ सकते हैं (वेदैश्च सर्वैरहमेव वैद्यः)। भगवान् के भक्त उस ज्ञान का प्रसार करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं जिससे कृष्णभावनामृत द्वारा भगवान् को समझा जा सकता है। लेकिन असुरगण परमेश्वर को न समझ सकने के कारण रजो तथा तमो गुणों से पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार दिव्य रूप वाले भगवान् असुरों का वध करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। सतो गुण के अनुशीलन से ही मनुष्य दिव्य भगवान् की स्थिति को तथा उन्हें समझने के मार्ग में आने वाले समस्त अवरोधों को हटाने के लिए वे जिस प्रकार सदैव उद्यत रहते हैं समझ सकता है।

सारांश रूप में जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, वे अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होते हैं। जैसाकि भगवद्गीता (४.७) में भगवान् कहते हैं :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

“हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है उस समय में स्वयं अवतरित होता हूँ।” भगवान् के विषय में यह सोचना मूर्खता होगी कि वे मूलतः निर्विशेष हैं और जब वे साक्षात् रूप में अवतरित होते हैं, तो भौतिक शरीर धारण कर लेते हैं। भगवान् जब भी अवतरित होते हैं, वे अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होते हैं, जो आध्यात्मिक एवं आनन्दपूर्ण होता है। लेकिन मायावादी जैसे अज्ञानी लोग भगवान् के दिव्य रूप को नहीं समझ पाते अतएव भगवान् यह कहकर उनको दण्डित करते हैं—*अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। जब भी भगवान् प्रकट होते हैं, चाहे मछली के रूप में हों, कछुआ, शूकर या अन्य किसी रूप में हों, मनुष्य को यह समझना चाहिए कि वे अपनी दिव्य स्थिति बनाये रखते हैं और उनका एकमात्र कार्य होता है *हत्वा*—असुरों का वध करना। भगवान् भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का वध करने के लिए प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। चूँकि असुरगण सदैव वैदिक सभ्यता का विरोध करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं, अतएव भगवान् के दिव्य रूप के द्वारा उनका वध अवश्यम्भावी है।

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-

लोकान्विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।

धर्म महापुरुष पासि युगानुवृत्तं

छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; नृ—यथा मनुष्य (यथा कृष्ण तथा रामचन्द्र); तिर्यक्—पशु की तरह का (जैसे शूकर); ऋषि—महान् ऋषि की तरह (परशुराम); देव—देवता गण; झष—लचर (जैसे मछली तथा कछुवा); अवतारैः—ऐसे विभिन्न अवतारों के द्वारा; लोकान्—सारे लोकों को; विभावयसि—रक्षा करते हो; हंसि—(कभी-कभी) मारते हो; जगत् प्रतीपान्—इस संसार में बाधा उत्पन्न करने वालों को; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; महा-पुरुष—हे महान् पुरुष; पासि—रक्षा करते हो; युग-अनुवृत्तम्—विभिन्न युगों के अनुसार; छन्नः—ढका हुआ; कलौ—कलियुग में; यत्—क्योंकि; अभवः—हुए हैं (और भविष्य में होंगे); त्रि-युगः—त्रियुग नामक; अथ—अतएव; सः—वही पुरुष; त्वम्—तुम ।

हे प्रभु, इस प्रकार आप विभिन्न अवतारों में जैसे मनुष्य, पशु, ऋषि, देवता, मत्स्य या कच्छप के रूप में प्रकट होते हैं और इस प्रकार से विभिन्न लोकों में सम्पूर्ण सृष्टि का पालन करते हैं तथा आसुरीं सिद्धान्तों का वध करते हैं। हे भगवान्, आप युग के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आप स्वयं को भगवान् के रूप में घोषित नहीं करते। इसलिए आप ‘त्रियुग’ कहलाते हैं, अर्थात् तीन युगों में प्रकट होने वाले भगवान्।

तात्पर्य : जिस प्रकार मधु तथा कैटभ के आक्रमण से ब्रह्मा की रक्षा करने के लिए भगवान् प्रकट हुए थे उसी प्रकार वे परम भक्त प्रह्लाद महाराज की रक्षा करने के लिए भी प्रकट हुए। इसी प्रकार कलियुग के पतित जीवों की रक्षा के लिए भगवान् चैतन्य प्रकट हुए। युग चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग। कलियुग को छोड़कर शेष तीन युगों में भगवान् विभिन्न अवतारों में प्रकट होकर भगवान् कहलाते हैं, किन्तु यद्यपि कलियुग में श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् हैं, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने आपको भगवान् नहीं कहा। उल्टे, जब-जब उन्हें कृष्ण के समान होने वाले सम्बोधित किया गया तब-तब वे अपने हाथों से अपने कान बन्द कर लेते थे और अपने आपको कृष्ण कहने से मना कर देते थे, क्योंकि वे एक भक्त की भूमिका निभा रहे थे। वे जानते थे कि कलियुग में अपने आपको ईश्वर का नकली अवतार कहने वाले अनेक लोग होंगे, अतएव वे अपने आपको भगवान् कहे जाने से कतराते रहे। किन्तु अनेक वैदिक ग्रंथों में, विशेष रूप से *भागवत* (११.५.३२) में चैतन्य महाप्रभु को भगवान् स्वीकार किया जाता है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।

यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

कलियुग में बुद्धिमान लोग भगवान् की पूजा श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में करते हैं, जो नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास जैसे अपने पार्षदों से सदैव घिरे रहते हैं। समग्र कृष्णभावनामृत आन्दोलन *सङ्कीर्तन* आन्दोलन पर आधारित है, जिसका सूत्रपात श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा किया गया। अतएव जो भी व्यक्ति *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के माध्यम से भगवान् को समझने का प्रयास करता है, वह प्रत्येक वस्तु को भलीभाँति जान लेता है। वह *सुमेधस्* अर्थात् प्रचुर ज्ञानवान् व्यक्ति होता है।

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ

सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।

कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं

तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—निश्चय ही नहीं; एतत्—यह; मनः—मन; तव—तुम्हारी; कथासु—दिव्य कथाओं में; विकुण्ठ-नाथ—हे चिन्तारहित वैकुण्ठ के स्वामी; सम्प्रीयते—शान्त हो जाता है या रुचि रखता है; दुरित—पापकर्मों से; दुष्टम्—बेईमान; असाधु—झूठा; तीव्रम्—वश में करना कठिन; काम-आतुरम्—सदैव विभिन्न इच्छाओं तथा कामेच्छाओं से पूर्ण; हर्ष-शोक—कभी हर्ष द्वारा तो कभी दुःख द्वारा; भय—तथा कभी भय द्वारा; एषणा—तथा इच्छा द्वारा; आर्तम्—दुःखी; तस्मिन्—उस मानसिक स्थिति में;

कथम्—कैसे; तव—तुम्हारा; गतिम्—दिव्य कार्यकलाप; विमृशामि—मैं विचार करूँगा और समझने का प्रयास करूँगा; दीनः—अत्यन्त पतित तथा गरीब।

चिन्तारहित वैकुण्ठलोकों के स्वामी, मेरा मन अत्यन्त पापी तथा कामी है, कभी यह सुखी कहलाता है, तो कभी दुखी है। मेरा मन शोक तथा भय से पूर्ण है और सदैव अधिकाधिक धन की खोज में रहता है। इस तरह यह अत्यधिक दूषित गया है और आपकी कथाओं से कभी तुष्ट नहीं होता। अतएव मैं अत्यन्त पतित तथा दलित हूँ। ऐसी जीवन-स्थिति में भला मैं आपके कार्यकलापों की व्याख्या करने में किस तरह समर्थ हो सकता हूँ?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रह्लाद महाराज अपने को सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं यद्यपि उन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वे आध्यात्मिक जगत के वैकुण्ठलोकों में सदैव स्थित रहते हैं, किन्तु पतित आत्माओं की ओर से वे पूछते हैं कि जब उनका मन भौतिक वस्तुओं से सदैव विचलित रहता है, तो वे किस तरह भगवान् की दिव्य स्थिति की चर्चा कर सकते हैं? हमारा मन इसलिए पापपूर्ण हो जाता है, क्योंकि हम सदैव पापपूर्ण कार्यों में लगे रहते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु जो कृष्णभावनामृत से सम्बन्धित न समझी जानी चाहिए। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* में (१८.६६) कृष्ण चाहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

“सारे धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं सारे पाप-कर्मों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।” ज्योंही कोई भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है, वे तुरन्त ही उसे पापकर्मों के फलों से छुटकारा दिला देते हैं। अतएव जो भगवान् के चरणकमलों में शरणागत नहीं है उसे पापपूर्ण, मूर्ख, मनुष्यों में पतित तथा नास्तिक मनोवृत्तियों के कारण समस्त असली ज्ञान से विहीन-समझना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१५) में हुई है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

इसलिए, विशेष रूप से इस कलियुग में, मन को शुद्ध करना चाहिए और यह हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन द्वारा ही सम्भव है। *चेतो दर्पणमार्जनम्*। इस युग में हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन की विधि ही

एकमात्र उपाय है, जिससे पापपूर्ण मन को शुद्ध किया जा सकता है। जब मन सारे पापपूर्ण कर्म-फलों से धुल जाता है, तो मनुष्य मानव जीवन में अपने कर्तव्य (धर्म) को समझ सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन पापी मनुष्यों को शिक्षित करने के लिए है, जिससे वे हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने मात्र से ही पवित्र हो सकें।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

इस कलियुग में गम्भीर तथा चतुर बनने के लिए हृदय (मन) को स्वच्छ करने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र के उच्चारण के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी विधि नहीं जिसका महत्त्व हो। प्रह्लाद महाराज ने पिछले श्लोकों में इस विधि की परिपुष्टि की है। *त्वद्दीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः*। प्रह्लाद इसकी और भी पुष्टि करते हैं कि यदि किसी का मन सदैव कृष्ण चिन्तन में लीन है, तो वही गुण मनुष्य को शुद्ध बनाएगा और उसे सदा के लिए शुद्ध रखेगा। भगवान् तथा उनके कार्यकलापों को समझने के लिए मनुष्य को भौतिक जगत के सारे कल्मष से अपने मन को मुक्त रखना चाहिए और इसे वह भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करके ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह सारे भव-बन्धन से छूट जाता है।

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता

शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक्क्व च कर्मशक्ति-

बह्व्यः सपत्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; एकतः—एक ओर; अच्युत—हे अच्युत भगवान्; विकर्षति—आकर्षित करती है; मा—मुझको; आवितृप्ता—सन्तुष्ट न होने से; शिश्नः—जननेन्द्रियाँ; अन्यतः—दूसरी ओर; त्वक्—चमड़ी (मुलायम वस्तु को छूने के लिए); उदरम्—पेट (तरह-तरह के भोजन के लिए); श्रवणम्—कान (किसी मधुर संगीत को सुनने के लिए); कुतश्चित्—किसी अन्य ओर तक; घ्राणः—नाक (सूँघने के लिए); अन्यतः—और भी दूसरी ओर को; चपल-दृक्—चंचल दृष्टि; क्व च—कहीं पर; कर्म-शक्तिः—सक्रिय इन्द्रियाँ; बह्व्यः—अनेक; स-पत्यः—सौतेँ; इव—सदृश; गेह-पतिम्—गृहस्थ को; लुनन्ति—नष्ट कर देती हैं।

हे अच्युत भगवान्, मेरी दशा उस पुरुष की भाँति है, जिसकी कई पत्नियाँ हों और वे सभी उसे अपने अपने ढंग से आकर्षित करने का प्रयास कर रही हों। उदाहरणार्थ, जीभ स्वादिष्ट व्यंजनों की ओर आकृष्ट होती है, जननेन्द्रियाँ किसी आकर्षक स्त्री के साथ संभोग करने के लिए

और स्पर्श इन्द्रियाँ मुलायम वस्तुओं का स्पर्श करने के लिए आकृष्ट होती हैं। पेट भरा रहने पर भी अधिक खाना चाहता है और कान आपके विषय में न सुन कर सामान्यतः सिनेमा गीतों की ओर आकृष्ट होते हैं। घ्राण की इन्द्रिय किसी अन्य ओर ही आकृष्ट होती है, चंचल आँखें इन्द्रियतृप्ति के दृश्यों की ओर आकृष्ट होती हैं तथा सक्रिय इन्द्रियाँ अन्यत्र आकृष्ट होती हैं। इस तरह मैं सचमुच ही दुविधा में रहता हूँ।

तात्पर्य : मानव जीवन ईश-साक्षात्कार के लिए है, किन्तु श्रवणं कीर्तनं विष्णोः से प्रारम्भ होने वाली यह विधि तब तक विचलित होती रहती है जब तक हमारी इन्द्रियाँ भौतिक रूप से आकृष्ट होती हैं। अतएव भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को शुद्ध बनाना। बद्ध-अवस्था में हमारी इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रियतृप्ति द्वारा प्रच्छन्न रहती हैं और जब तक मनुष्य को इन्द्रियों को विमल बनाने का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता, तब तक वह भक्त नहीं बन सकता। इसीलिए हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में प्रारम्भ से यही उपदेश देते हैं कि मनुष्य इन्द्रियों के कार्यकलापों को, विशेष रूप से जीभ को, जिसे श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अत्यन्त लालची तथा अजेय बताया है सीमित करे। जीभ के इस आकर्षण पर अंकुश लगाने के लिए मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह न तो मांस या ऐसी ही अखाद्य वस्तुएँ ग्रहण करे, न ही वह जीभ को सुरापान करने या धूम्रपान करने की अनुमति दे। यहाँ तक कि चाय तथा काफी पीने की भी अनुमति नहीं दी जाती। इसी प्रकार जननेन्द्रियों को अवैध काम से रोकना चाहिए। इन्द्रियों पर ऐसे अंकुश के बिना मनुष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति नहीं कर सकता। इन्द्रियों को वश में करने की एकमात्र विधि भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करना है। अन्यथा मनुष्य सदैव विचलित होता रहेगा जिस प्रकार कि अनेक पत्नियों वाला गृहस्थ सदैव इन्द्रियतृप्ति के लिए उनके द्वारा विचलित किया जाता है।

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-

मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।

पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं

हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; स्व-कर्म-पतितम्—अपने भौतिक कार्यकलापों के फल के कारण पतित हुआ; भव—अज्ञान जगत (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि की तुलना में); वैतरण्याम्—वैतरणी नदी में (जो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के द्वार के समक्ष बहती है); अन्य: अन्य—एक के बाद एक; जन्म—जन्म; मरण—मृत्यु; आशन—विभिन्न प्रकार का भोजन; भीत-भीतम्—अत्यधिक भयभीत; पश्यन्—देखते हुए; जनम्—जीव को; स्व—अपना; पर—पराया; विग्रह—शरीर में; वैर-मैत्रम्—मित्रता तथा शत्रुता मानते हुए; हन्त—हाथ; इति—इस तरह; पारचर—मृत्यु की नदी के दूसरी ओर स्थित आप; पीपृहि—कृपया हम सबों को (इस घातक स्थिति से) बचा लें; मूढम्—आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन हम सभी मूर्ख हैं; अद्य—आज (क्योंकि आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं)।

हे भगवान्, आप सदैव मृत्यु की नदी के दूसरी ओर (उस पार) दिव्य रूप में स्थित रहते हैं, किन्तु हम सभी अपने पापकर्मों के फलों के कारण इस ओर कष्ट भोग रहे हैं। निस्सन्देह, हम इस नदी में गिर गये हैं और जन्म-मृत्यु की वेदनाओं से बारम्बार कष्ट उठा रहे हैं तथा भयानक वस्तुएँ खा रहे हैं। अब कृपा करके हम पर दृष्टि डालिये—न केवल मुझ पर अपितु उन सबों पर जो कष्ट उठा रहे हैं—और अपनी अहैतुकी कृपा तथा दया से हमारा उद्धार कीजिए तथा हमारा पालन कीजिये।

तात्पर्य : शुद्ध वैष्णव प्रह्लाद महाराज भगवान् से न केवल अपने लिए, अपितु अन्य समस्त पीड़ित जीवों के लिए प्रार्थना करते हैं। वैष्णवों की दो कोटियाँ हैं— *भजनानन्दी* तथा *गोष्ठ्यानन्दी*। भजनानन्दी केवल अपने निजी लाभ के लिए भगवान् की पूजा करते हैं, लेकिन गोष्ठ्यानन्दी अन्य सबों को कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठाना चाहते हैं जिससे उनकी रक्षा हो सके। ऐसे मूर्ख जो बारम्बार जन्म तथा मृत्यु को एवं भौतिक जीवन के अन्य कष्टों को देख नहीं पाते इसके बारे में तनिक भी आश्वस्त नहीं रह सकते कि अगले जन्म में उन पर क्या बीतेगी। निस्सन्देह, ऐसे मूर्ख भौतिकताग्रस्त धूर्तों ने जीवन की अनुत्तरदायी शैली बना ली है, जो अगले जीवन के बारे में सोचते ही नहीं। वे यह नहीं जानते कि अपने ही कार्यकलापों के अनुसार मनुष्य को चौरासी लाख योनियों में से चुनकर शरीर प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* में इन धूर्तों को *दुष्कृतिनो मूढाः* कहा गया है। जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं ऐसे अभक्तों को पापकर्मों में लगना पड़ता है। इसीलिए वे मूढ अर्थात् मूर्ख तथा धूर्त हैं। वे ऐसे मूर्ख होते हैं कि उन्हें यह भी ज्ञात नहीं रहता कि अगले जीवन में उन पर क्या बीतेगी। यद्यपि वे सब तरह के प्राणियों को घृणित वस्तुएँ खाते देखते हैं—यथा शूकरों को मल खाते, मगरमच्छों को सभी प्रकार की मछली इत्यादी खाते इत्यादी व्यर्थ की वस्तुएँ खाने के कारण अगले जीवन में वे अत्यन्त गर्हित वस्तुएँ खाने के लिए बाध्य होंगे। एक वैष्णव ऐसे गर्हित जीवन से सदैव भयभीत रहता है और ऐसी

वीभत्स दशा से उबरने के लिए वह अपने आपको भगवान् की भक्ति में लगाता है। भगवान् उन पर दयालु हैं अतएव वे उनके हित के लिए प्रकट होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

“हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है उस समय मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।” (*भगवद्गीता* ४.७) भगवान् पतिततात्माओं की सहायता के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं लेकिन वे मूर्ख तथा धूर्त होने के कारण कृष्णभावनामृत को ग्रहण नहीं करते और कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं करते। इसीलिए यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं, किन्तु वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में उपदेश करने के लिए भक्त रूप में आते हैं। *यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।* अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण का निष्ठावान् दास बने। *आमार आज्ञाय गुरु हजा तार 'एइ देश (चैतन्य-चरितामृत मध्य ७.१२८)।* मनुष्य को गुरु बनना चाहिए और सारे विश्व में *भगवद्गीता* की शिक्षाओं का मात्र उपदेश देकर कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहिए।

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास

उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।

मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो

किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन सा; नु—निस्सन्देह; अत्र—इस मामले में; ते—आपका; अखिल-गुरो—हे सम्पूर्ण सृष्टि के परम गुरु; भगवन्—हे भगवान्; प्रयासः—प्रयास; उत्तारणे—इन पतित आत्माओं के उद्धार हेतु; अस्य—इसका; भव-सम्भव—सृजन तथा पालन का; लोप—तथा प्रलय का; हेतोः—कारण का; मूढेषु—इस भौतिक जगत में सड़ने वाले मूर्ख व्यक्तियों में; वै—निस्सन्देह; महत्-अनुग्रहः—भगवान् द्वारा दया; आर्त-बन्धो—हे पीड़ित जीवों के मित्र; किम्—क्या कठिनाई है; तेन—उससे; ते—तुम्हारे; प्रिय-जनान्—प्रिय पुरुषों (भक्तों) को; अनुसेवताम्—जो सदैव सेवा करने में लगे हैं उनका; नः—हमारी तरह (जो इस तरह लगे हैं)।

हे परमेश्वर, हे समग्र जगत के आदि आध्यात्मिक गुरु, आप ब्रह्माण्ड के कार्यों के प्रबन्धक हैं, अतएव आपकी सेवा में लगे हुए पतिततात्माओं का उद्धार करने में आपको कौन सी कठिनाई है? आप सभी दुखी मानवता के मित्र हैं और महापुरुषों के लिए मूर्खों पर दया दिखलाना आवश्यक है। अतएव मैं सोचता हूँ कि आप हम जैसे मनुष्यों पर अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करेंगे जो आपकी सेवा में लगे हुए हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *प्रियजनान् अनुसेवतां नः* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् उन भक्तों का पक्ष लेते हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्त के उपदेशों के अनुसार कर्म करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् के दासों के दास के दास बनना चाहिए। यदि कोई सीधे भगवान् का दास बनना चाहे तो यह उतना लाभप्रद नहीं होगा जितना कि भगवान् के दास का दास बनना। यह उन श्री चैतन्य महाप्रभु का आदेश है, जो हमें *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः* बनने का मार्ग दिखलाते हैं। मनुष्य को भगवान् का सीधा भक्त बनने में गर्वित नहीं होना चाहिए, अपितु उसे भगवान् के दास, किसी शुद्ध भक्त, का अन्वेषण करके उसकी सेवा में लगना चाहिए। जो जितना ही अधिक दास का दास बनता है, वह भक्ति में उतना ही पूर्ण बनता है। यह *भगवद्गीता* का भी आदेश है—*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः।* केवल परम्परा प्रणाली द्वारा भगवान् के विज्ञान को समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास—मुझे भगवान् के भक्तों के चरणकमलों की सेवा करने दो तथा उनके साथ रहने दो। जन्मे जन्मे हय, एइ अभिलाष।* नरोत्तमदास ठाकुर का अनुसरण करते हुए मनुष्य को जन्म-जन्मांतर भगवान् के दास का दास बनने की अभिलाषा करनी चाहिए। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर भी गाते हैं—*तुमि त'ठाकुर, तोमार कुकुर, बलिया जानह मोरे—हे भगवान्, हे वैष्णव! कृपा करके मुझे अपना कुत्ता मान लें। मनुष्य को शुद्ध भक्त अर्थात् वैष्णव का कुत्ता बनना चाहिए, क्योंकि वह बिना कठिनाई के कृष्ण को प्राप्त करा देगा। कृष्ण से तोमार, कृष्ण दिते पार।* कृष्ण अपने शुद्ध भक्त की सम्पत्ति हैं अतएव यदि हम शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करें तो वह सरलता से कृष्ण को प्राप्त करा सकता है। प्रह्लाद किसी भक्त की सेवा में लगना चाहते हैं इसलिए वे कृष्ण से प्रार्थना करते हैं—“हे भगवान्! मुझे अपने प्रिय भक्त की शरण दे दें जिससे मैं उसकी सेवा कर सकूँ और आपको प्रसन्न कर सकूँ।” *मद्भक्तपूजाभ्यधिका (भागवत ११.१९.२१)*। भगवान् कहते हैं “मेरी भक्ति करने की अपेक्षा मेरे भक्त की सेवा में लगने का प्रयास करना श्रेष्ठ है।”

इस श्लोक में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वह यह है कि प्रह्लाद महाराज अकेले ही भक्ति से लाभान्वित नहीं होना चाहते, अपितु वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि इस भौतिक जगत में हम सभी पतितात्माएँ उनकी कृपा से उनके दास की सेवा में लगें जिससे हम सबों का उद्धार हो जाए।

भगवान् के लिए अपनी कृपा प्रदान करना कठिन नहीं है और इस तरह प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत का प्रसार करके सारे विश्व को बचाना चाहते हैं।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्
 त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
 शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ
 मायासुखाय भरमुद्धहतो विमूढान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; उद्विजे—मैं उद्विग्न अथवा भयभीत हूँ; पर—हे पर; दुरत्यय—पार करना कठिन; वैतरण्याः—वैतरणी नदी को (भौतिक जगत की नदी); त्वत्-वीर्य—आपके यश तथा कार्यकलाप का; गायन—कीर्तन करने से या वितरित करने से; महा-अमृत—अमृत के समान आध्यात्मिक आनन्द के महासागर में; मग्न-चित्तः—लीन चित्त वाला; शोचे—मैं केवल पछता रहा हूँ; ततः—उससे; विमुख-चेतसः—वे मूर्ख तथा धूर्त जो कृष्णभावनामृत से विहीन हैं; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय तृप्ति में; माया-सुखाय—क्षणिक मोहमय सुख के लिए; भरम्—मिथ्या भार या उत्तरदायित्व (अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र के पालन के लिए तथा उस हेतु विशद प्रबन्ध); उद्धहतः—उठाये हुए (इस प्रबन्ध के लिए महान् योजनाएँ बना कर); विमूढान्—यद्यपि वे मूर्खों तथा धूर्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं (मैं उनके विषय में भी सोच रहा हूँ)।

हे श्रेष्ठ महापुरुष, मैं भौतिक जगत से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जहाँ कहीं भी ठहरता हूँ आपके यश तथा कार्यकलाप के विचारों में लीन रहता हूँ। मैं एकमात्र उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए चिन्तित हूँ जो भौतिक सुख के लिए तथा अपने परिवार, समाज तथा देश के पालन हेतु बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। मैं मात्र उन के प्रति प्रेम के बारे में चिन्तित हूँ।

तात्पर्य : संसार भर में सारे व्यक्ति भौतिक जगत के दुखों से निपटने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। यह बात वर्तमान समय के लिए, भूतकाल के लिए तथा भविष्य के लिए सत्य है। यद्यपि लोग इतनी बड़ी-बड़ी राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक योजनाएँ बनाते हैं, तो भी यहाँ पर उन्हें विमूढ अर्थात् मूर्ख कहा गया है। भगवद्गीता में इस भौतिक जगत को दुःखालयम् अशाश्वतम्—कहा गया है लेकिन ये मूर्ख भौतिक जगत को सुखालयम्—सुख का आगार बनाने पर तुले हैं। वे यह नहीं जानते कि प्रत्येक वस्तु भौतिक प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार किस प्रकार कार्य करती है और प्रकृति अपने ढंग से कार्य करती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥

“मोहग्रस्त जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव में अपने आपको उन सारे कार्यों का कर्ता मान लेता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।” (*भगवद्गीता* ३.२७)

भौतिक प्रकृति जो मानव रूप में दुर्गा नाम से जानी जाती है, असुरों को दण्डित करने के लिए योजना बनाती है। यद्यपि सारे असुर, जो ईशविहीन दैत्य हैं, जीवन-संघर्ष में रत रहते हैं, किन्तु दुर्गा देवी, जो अपने दसों-हाथों में विभिन्न आयुधों से युक्त रहती हैं, उन पर सीधा प्रहार करती हैं। वे अपने सिंहवाहन या रजो तथा तमोगुण पर सवारी करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति रजो तथा तमों गुणों द्वारा युद्ध करने और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का घोर संघर्ष करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा प्रकृति के नियमों द्वारा सबों का विनाश हो जाता है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के बीच में वैतरणी नामक एक नदी पड़ती है। इसके दूसरी ओर अर्थात् आध्यात्मिक जगत में पहुँचने के लिए इस नदी को पार करना होता है। इसे पार करना दुष्कर है जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कहते हैं—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—मेरी इस दैवी शक्ति को जो तीन गुणों वाली है, पार पाना कठिन है। यहाँ पर यही *दुरत्यया* शब्द प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है “अत्यन्त कठिन”। अतएव कोई भगवान् की दया के बिना प्रकृति के कठोर नियमों से पार नहीं पा सकता। इतने पर भी सारे भौतिकतावादी अपनी-अपनी योजनाओं से मोहग्रस्त कर भी इस भौतिक जगत में सुखी बनने के लिए बारम्बार प्रयास करते हैं, इसलिए उन्हें *विमूढ*—प्रथम कोटि का मूर्ख—कहा गया है। जहाँ तक प्रह्लाद महाराज की बात है, वे तनिक भी दुखी नहीं थे, क्योंकि इस भौतिक जगत में रहते हुए भी वे कृष्णभावनामृत से परिपूर्ण थे। जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं और भगवान् की सेवा करने का प्रयास कर रहे हैं, वे दुखी नहीं हैं। किन्तु जिसके पास कृष्णभावनामृत की कोई पूँजी नहीं है और जो जीवन-संघर्ष में रत है, वह न केवल मूर्ख है, अपितु अत्यधिक दुखी भी है। प्रह्लाद महाराज एक साथ सुखी तथा दुखी थे। कृष्णभावनाभावित होने के कारण वे अत्यन्त सुख तथा दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे, फिर भी वे उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए अत्यधिक दुखी थे, जो इस भौतिक जगत में सुखी बनने की विशद योजनाएँ बनाते हैं।

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा

मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
 नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्षु एको
 नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः सभी मामलों में, सामान्यतया; देव—हे ईश्वर; मुनयः—बड़े बड़े सन्त पुरुष; स्व—निजी; विमुक्ति-कामाः—इस भौतिक जगत से मुक्ति के इच्छुक; मौनम्—मूक भाव से; चरन्ति—विचरण करते हैं (हिमालय के जंगल में जहाँ भौतिकतावादियों के कार्यकलापों से कोई सम्पर्क नहीं रहता); विजने—एकान्त स्थान में; न—नहीं; पर-अर्थ-निष्ठाः—कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ पहुँचाने के लिए अन्यो के लिए काम करने में रुचि रखने वाला; न—नहीं; एतान्—इन; विहाय—छोड़कर; कृपणान्—मूर्खों तथा धूर्तों को (जो मनुष्य जीवन का लाभ न जानते हुए भौतिक कार्य में लगे रहते हैं); विमुमुक्षे—मैं मुक्त होना और भगवद्धाम लौट जाना चाहता हूँ; एकः—अकेला; न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; त्वत्—आपके लिए ही; अस्य—इसकी; शरणम्—शरण; भ्रमतः—ब्रह्माण्ड भर में घूमने और भटकने वाले जीव की; अनुपश्ये—मैं देखूँ।

हे भगवान् नृसिंहदेव, मैं देख रहा हूँ कि सन्त पुरुष तो अनेक हैं, किन्तु वे अपने ही मोक्ष में रुचि रखते हैं। वे बड़े-बड़े नगरों की परवाह न करते हुए मौन व्रत धारण करके ध्यान करने के लिए हिमालय या बन में चले जाते हैं; वे दूसरों की मुक्ति में रुचि नहीं रखते, किन्तु जहाँ तक मेरी बात है मैं इन बेचारे मूर्खों तथा धूर्तों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि कृष्णभावनामृत के बिना और आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। अतएव मैं उन सबों को आपके चरणकमलों की शरण में वापस लाना चाहता हूँ।

तात्पर्य : यह एक वैष्णव अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्त का निर्णय है। यदि उसे इस भौतिक जगत में रुकना भी पड़े, तो उसकी अपनी कोई समस्याएँ नहीं हैं क्योंकि उसका एकमात्र व्यापार कृष्णभावनामृत में स्थित रहना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति नरक में भी जाकर सुखी रह सकता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने कहा—*नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्याः*—हे श्रेष्ठ पुरुष! मैं इस भौतिक संसार से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ। शुद्ध भक्त जीवन की किसी भी अवस्था में दुखी नहीं रहता। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (६.१७.२८) में हुई है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

“जो भक्त एकान्त भाव से भगवान् नारायण की भक्ति में लगे रहते हैं, वे जीवन की किसी अवस्था में कभी भयभीत नहीं होते। उनके लिए स्वर्ग, मोक्ष तथा नरक एक से हैं, क्योंकि ऐसे भक्त भगवान् की सेवा में ही लगे रहना चाहते हैं।”

भक्त के लिए स्वर्ग या नरक में रहना एक-जैसा है, क्योंकि भक्त न तो स्वर्ग में रहता है, न नरक में अपितु वह आध्यात्मिक जगत में कृष्ण के साथ रहता है। भक्त की सफलता का मर्म कर्मियों तथा ज्ञानियों को ज्ञात नहीं हो पाता। अतएव कर्मीजन भौतिक जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनना चाहते हैं और ज्ञानीजन परमेश्वर के साथ तदाकार होकर सुखी बनना चाहते हैं। किन्तु भक्त की ऐसी कोई रुचि नहीं होती। वह हिमालय या जंगल में जाकर तथाकथित ध्यान में रुचि नहीं रखता। प्रत्युत वह संसार के सबसे व्यस्त भाग में रुचि दिखाता है जहाँ वह लोगों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ इसी उद्देश्य से किया गया था। हम किसी को एकान्त स्थान में ध्यान करने की शिक्षा नहीं देते जिससे वह यह दिखा सके कि वह प्रगत हो चुका है और वह अपने तथाकथित दिव्य ध्यान के बारे में गर्व का अनुभव कर सके, भले ही वह सभी प्रकार के मूर्खतापूर्ण भौतिक कार्यों में व्यस्त क्यों न रहता हो। प्रह्लाद महाराज जैसा वैष्णव कभी भी आध्यात्मिक प्रगति में झाँसा देने के पक्ष में नहीं होता। प्रत्युत वह लोगों में कृष्णभावनामृत जागृत करने में रुचि रखता है, क्योंकि यही एकमात्र साधन है, जिससे वे सुखी बन सकते हैं। प्रह्लाद महाराज स्पष्ट कहते हैं— *नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये*—मैं जानता हूँ कृष्णभावनामृत के बिना अर्थात् आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य जन्म-जन्मांतर इस ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है, किन्तु किसी भक्त श्री चैतन्य महाप्रभु के दास की कृपा से उसे कृष्णभावनामृत का पता चल सकता है और तब वह न केवल इस जगत में सुखी बन सकता है, अपितु भगवद्धाम को वापस जा सकता है। जीवन का यही असली लक्ष्य है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य हिमालय या वन में जाकर तथाकथित ध्यान करने में रुचि नहीं रखते, जहाँ मनुष्य ध्यान का प्रदर्शन मात्र कर सकता है। न ही वे शहरों में योग तथा ध्यान के अनेक स्कूल खोलने में रुचि रखते हैं। प्रत्युत कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही लक्ष्य है। प्रत्येक सदस्य द्वार-द्वार जाकर लोगों को *भगवद्गीता* की शिक्षाओं अथवा भगवान् चैतन्य की शिक्षाओं के विषय में आश्वस्त करने के प्रयास में रुचि रखता है। हरे कृष्ण आन्दोलन का यही लक्ष्य है। के सदस्यों को पूरा विश्वास हो जाना चाहिए कि कृष्ण के बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। इस तरह कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सभी प्रकार के छद्म-आध्यात्मवादियों, चिन्तकों, एकेश्वरवादियों, दार्शनिकों तथा परोपकारियों से दूर रहता है।

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
 कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
 तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
 कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो (इन्द्रिय तृप्ति के निमित्त है); मैथुन-आदि—काम चर्चा, काम साहित्य का पठन या विषयी जीवन का भोग (घर में, या बाहर यथा क्लब में); गृहमेधि-सुखम्—परिवार, समाज, मैत्री इत्यादि से अनुरक्त रहने के आधार पर सभी प्रकार का भौतिक सुख.; हि—निस्सन्देह; तुच्छम्—तुच्छ, नगण्य; कण्डूयनेन—खुजलाने से; करयोः—दोनों हाथों के (खुजली दूर करने के लिए); इव—सदृश; दुःख-दुःखम्—विभिन्न प्रकार के दुख (इन्द्रियतृप्ति की खुजली के पश्चात् होनेवाले); तृप्यन्ति—तृष्ट हो जाते हैं; न—कभी नहीं; इह—भौतिक इन्द्रिय तृप्ति में; कृपणाः—मूर्ख व्यक्ति; बहु-दुःख-भाजः—विभिन्न प्रकार के दुखों को प्राप्त; कण्डूति-वत्—यदि ऐसी खुजलाहट से सीख ले सके; मनसि-जम्—जो मात्र मानसिक कल्पना है (वास्तविक सुख नहीं होता); विषहेत—तथा (ऐसी खुजलाहट) सहन करता है; धीरः—अत्यन्त पूर्ण तथा गम्भीर व्यक्ति (बन सकता है)।

विषयी जीवन की तुलना खुजली दूर करने हेतु दो हाथों को रगड़ने से की गई है। गृहमेधि अर्थात् तथाकथित गृहस्थ जिन्हें कोई आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है, सोचते हैं कि यह खुजलाना सर्वोत्कृष्ट सुख है, यद्यपि वास्तव में यह दुख का मूल है। कृपण जो ब्राह्मणों से सर्वथा विपरीत होते हैं, बारम्बार ऐन्द्रिय भोग करने पर भी तृष्ट नहीं होते। किन्तु जो धीर हैं और इस खुजलाहट को सह लेते हैं उन्हें मूर्खों तथा धूर्तों जैसे कष्ट नहीं सहने पड़ते।

तात्पर्य : भौतिकतावादी सोचते हैं कि इस संसार का सबसे बड़ा सुख विषयासक्ति है, अतएव वे अपनी इन्द्रियों को, विशेष रूप से कामेन्द्रियों को, तृष्ट करने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। ऐसा सामान्यतया सर्वत्र और विशेष रूप से पाश्चात्य जगत में पाया जाता है जहाँ विषयी जीवन की तृष्टि के लिए विभिन्न प्रकार के नियमित प्रबन्ध होते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि इससे कोई सुखी नहीं हो पाया है। यहाँ तक कि वे हिप्पी भी, जिन्होंने अपने बाप-दादों के भौतिक सुखों का परित्याग कर दिया है, विषयी जीवन के सनसनीखेज सुख नहीं त्याग सकते! ऐसे लोगों को यहाँ पर कृपण कहा गया है। यह मनुष्य-जीवन एक महान् निधि है, क्योंकि इसी जीवन में मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य को पूरा कर सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश शिक्षा तथा संस्कृति के अभाव में लोग विषयी जीवन के मिथ्या सुख के शिकार बनाये जाते हैं। इसीलिए प्रह्लाद महाराज यह उपदेश देते हैं कि इस इन्द्रियतृप्ति की सभ्यता से, विशेष रूप से विषयी जीवन से, भ्रमित न हुआ जाये। मनुष्य को गम्भीर होना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति से बचना चाहिए और कृष्णभावनाभावित होना चाहिए। इस के उल्टे कंजूस के समान ही कामी पुरुष

कभी भी इन्द्रियतृप्ति से सुख-लाभ नहीं कर पाता। प्रकृति के प्रभाव से बच पाना दुष्कर है किन्तु जैसाकि कृष्ण ने भगवद्गीता (७.१४) में कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—यदि कोई स्वेच्छा से कृष्ण के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करता है, तो वह आसानी से बच सकता है।

विषयी जीवन के निम्नकोटिक सुख के विषय में यामुनाचार्य कहते हैं—

यदावधि मम चेतः कृष्णापदारविन्दे

नव-नवरसधामनुद्यत रन्तुमासीत् ।

तदावधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे,

भवति मुखविकारः सुष्टु निष्ठीवनं च ।

“चूँकि मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाया गया हूँ और उन्हीं में नया-नया आनन्द पाता रहा हूँ, अतएव जब भी मैं विषय-सुख के बारे में सोचता हूँ तभी इस विचार पर थूकता हूँ और मेरे होंठ अरुचि से विकृत हो जाते हैं।” यामुनाचार्य पहले एक बड़े राजा थे जिन्होंने अनेक प्रकार का ऐन्द्रिय सुख भोगा था, किन्तु जब बाद में वे भगवान् की सेवा में रत हुए तो उन्हें आध्यात्मिक आनन्द मिला और विषयी जीवन के विचार पर घृणा होने लगी। यदि विषय-विचार उनके मन में आता भी तो वे घृणा से उस पर थूक देते थे।

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-

व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।

प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां

वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मौन—चुप्पी; व्रत—व्रत; श्रुत—वैदिक ज्ञान; तपः—तपस्या; अध्ययन—शास्त्र का अध्ययन; स्व-धर्म—वर्णाश्रम धर्म का पालन; व्याख्या—शास्त्रों की विवेचना; रहः—एकान्त स्थान में रहना; जप—कीर्तन अथवा मंत्रों का उच्चारण; समाधयः—समाधि में रहना; आपवर्ग्याः—मोक्ष मार्ग में प्रगति करने के लिए किये जाने वाले दस प्रकार के कार्य; प्रायः—सामान्यतया; परम्—एकमात्र साधन; पुरुष—हे प्रभु; ते—वे सब; तु—लेकिन; अजित-इन्द्रियाणाम्—उन व्यक्तियों का जो इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकते; वार्ताः—जीविका; भवन्ति—हैं; उत—इसलिए ऐसा कहा जाता है; न—नहीं; वा—अथवा; अत्र—इस सम्बन्ध में; तु—लेकिन; दाम्भिकानाम्—मिथ्या गर्व करने वाले व्यक्तियों का।

हे भगवन्, मोक्ष मार्ग के लिए दस विधियाँ संस्तुत हैं—मौन रहना, किसी से बातें न करना, व्रत रखना, सभी प्रकार का वैदिक ज्ञान संचित करना, तपस्या करना, वेदाध्ययन करना, वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों को पूरा करना, शास्त्रों की व्याख्या करना, एकान्त स्थान में रहना,

मौन मंत्रोच्चार करना, समाधि में लीन रहना। मोक्ष की ये विभिन्न विधियाँ सामान्यतया उन लोगों के लिए व्यापारिक अभ्यास और जीविकोपार्जन के साधन हैं जिन्होंने इन्द्रियों को जीता नहीं। चूँकि ऐसे लोग मिथ्या अहंकारी होते हैं अतएव हो सकता है कि ये विधियाँ सफल न भी हों।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत (६.१.१५) में कहा गया है—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।

अर्घं धुन्वन्ति कात्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥

“केवल ऐसा विरला पुरुष जिसने कृष्ण की पूर्ण अनन्य भक्ति स्वीकार की है, पापकर्मों के खर-पतवार का उन्मूलन कर सकता है, जिससे उसके दोबारा उगने की सम्भावना न रहे। वह इसे केवल भक्ति के द्वारा कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरंत भगा देता है।” मनुष्य जीवन का असली प्रयोजन भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है। ऐसी मुक्ति कई विधियों से प्राप्त की जा सकती है (तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च) किन्तु वे सब न्यूनाधिक तपस्या पर ही आश्रित रहती हैं, जो ब्रह्मचर्य से प्रारम्भ होती है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि जो वासुदेवपरायण हैं अर्थात् जो वासुदेव कृष्ण के चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हैं, वे मौन, व्रत तथा अन्य विधियों का फल केवल भक्ति करके स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में, ये सारी विधियाँ उतनी शक्तिशाली नहीं हैं। यदि कोई भक्ति करता है, तो वे सब की सब सरलता से सम्पन्न हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, मौन का अर्थ केवल बोलना छोड़ देना नहीं है। जीभ तो बोलने के लिए है यद्यपि कभी-कभी दिखावे के लिए मनुष्य मौन रहता है। बहुत से ऐसे लोग हैं, जो सप्ताह में किसी एक दिन मौन रहते हैं। लेकिन वैष्णव ऐसा मौन धारण नहीं करता। मौन का अर्थ है मूर्खतापूर्ण भाषण न करना। सामान्यतया सभाओं, समारोहों तथा बैठकों में लोग मेढकों की तरह मूर्खतापूर्वक भाषण करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने इसे वाचो वेगम् कहा है। जो व्यक्ति कुछ कहना चाहता है, वह अपने को बड़ा भारी वक्ता दिखला सकता है किन्तु अच्छा यही है कि बोलने की अपेक्षा वह मौन रहे। अतएव मौन की यह विधि ऐसे व्यक्तियों के लिए संस्तुत है, जो व्यर्थ बोलने के आदी हैं। जो भक्त नहीं होता वह मूर्खतापूर्ण ही बोलेगा, क्योंकि उसमें कृष्ण की महिमा के विषय में बोलने की शक्ति नहीं होती। इस तरह वह जो कुछ भी बोलता है, वह माया द्वारा प्रभावित रहता है और उसकी तुलना मेढक के टरटराने से की गई है। किन्तु जो भगवान्

की महिमा के विषय में बोलता है उसे मौन रहने की आवश्यकता नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है *कीर्तनीयः सदा हरिः*—मनुष्य को चौबीसों घण्टे भगवान् की महिमा का कीर्तन करते रहना चाहिए। मौन रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मोक्ष या मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने या मोक्ष के लिए ये दस विधियाँ भक्तों के लिए नहीं हैं। *केवलया भक्त्या*—यदि कोई केवल भगवद्भक्ति करता है, तो मोक्ष की सारी की सारी दसों विधियाँ स्वतः सम्पन्न हो जाती हैं। प्रह्लाद महाराज का प्रस्ताव है कि ऐसी विधियाँ *अजितेन्द्रियों* के लिए हैं, अर्थात् उनके लिए हैं, जो अपनी इन्द्रियों को जीत नहीं सकते। किन्तु भक्तगण पहले से अपनी इन्द्रियाँ जीत चुके होते हैं। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*—भक्त पहले से भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ होता है। अतएव श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कहा है—

दुष्ट मन! तुमि किसेर वैष्णव ?

प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे, तव हरिनाम केवल कैतव ।

ऐसे अनेक लोग हैं, जो हरे कृष्ण मंत्र का जाप एकान्त स्थान में करना चाहते हैं, लेकिन यदि कोई उपदेश करने, अभक्तों से निरन्तर बातें करने में रुचि नहीं रखता तो प्रकृति के गुणों के प्रभाव को पर विजय पाना दुष्कर है। अतएव जब तक कोई कृष्णभावनामृत में पूरी तरह प्रगत न हो उसे हरिदास ठाकुर की नकल नहीं करनी चाहिए, जिनके पास चौबीसों घण्टे पवित्र नाम का कीर्तन करने के अलावा कोई कार्य नहीं था। प्रह्लाद महाराज ऐसी विधि का तिरस्कार नहीं करते, वे इसे स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान् की सक्रिय सेवा से इन विधियों में से किसी एक से सामान्यतया मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोई मिथ्या अहंकार से ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे

बीजाङ्कु राविव न चान्यदरूपकस्य ।

युक्ताः समक्षमुभयत्र विचक्षन्ते त्वां

योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

रूपे—रूपों में; इमे—इन दो; सत्-असती—कार्य तथा कारण; तव—तुम्हारा; वेद-सृष्टे—वेदों में व्याख्यायित; बीज-
अङ्कुरौ—बीज तथा अंकुर; इव—सदृश; न—कभी नहीं; च—भी; अन्यत्—अन्य कोई; अरूपकस्य—बिना आकार वाले
आपका; युक्ताः—आपकी भक्ति में लीन; समक्षम्—आँखों के सामने; उभयत्र—दोनों तरह से (आध्यात्मिक तथा भौतिक रीति

से); विचक्षन्ते—वास्तव में देख सकते हैं; त्वाम्—तुमको; योगेन—केवल भक्ति के द्वारा; वह्निम्—आग; इव—सदृश; दारुषु—काठ में; न—नहीं; अन्यतः—अन्य किसी विधि से; स्यात्—सम्भव है।

प्रामाणिक वैदिक ज्ञान द्वारा मनुष्य यह देख सकता है कि विराट जगत में कार्य तथा कारण के रूप भगवान् के ही हैं, क्योंकि यह विराट जगत उन की शक्ति है। कार्य तथा कारण दोनों ही भगवान् की शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। अतएव हे प्रभु, जिस तरह कोई चतुर मनुष्य कार्य-कारण पर विचार करते हुए यह देख सकता है कि अग्नि किस तरह काठ में व्याप्त है उसी तरह भक्ति में लगे हुए व्यक्ति समझ सकते हैं कि आप किस प्रकार से कार्य तथा कारण दोनों ही हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णन हुआ है अनेक तथाकथित आध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधयः नामक विभिन्न दस विधियों का पालन करते हैं। ये कितनी ही आकर्षक क्यों न हों किन्तु इनके पालन द्वारा कोई वास्तविक कार्य-कारण तथा प्रत्येक वस्तु के मूल कारण को (जन्माद्यस्य यतः) नहीं समझ पाता। प्रत्येक वस्तु के मूल उद्गम तो स्वयं भगवान् हैं (सर्वकारणकारणम्)। प्रत्येक वस्तु का यह उद्गम परम शासक कृष्ण हैं। ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। उनका अपना नित्य आध्यात्मिक स्वरूप है। निस्सन्देह, वे प्रत्येक वस्तु के मूल हैं (बीजं मां सर्वभूतानाम्)। जितनी भी सृष्टियाँ दिख रही हैं उनका कारण भगवान् है। इसे तथाकथित मौन या अन्य किसी अस्त-व्यस्त विधि से नहीं समझा जा सकता। परम कारण को केवल भक्ति द्वारा ही समझा जा सकता है जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है (भक्त्या मामभिजानाति)। श्रीमद्भागवत में अन्यत्र (११.१४.२१) स्वयं भगवान् कहते हैं भक्त्याहमेकया ग्राह्यः—मनुष्य कारणों के कारण आदि परम पुरुष को केवल भक्ति से समझ सकता है, किसी प्रकार के दिखावे से नहीं।

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बु मात्राः

प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्

नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (हो); वायुः—वायु; अग्निः—अग्नि; अवनिः—पृथ्वी; वियत्—आकाश; अम्बु—जल; मात्राः—इन्द्रियविषय; प्राण—प्राणवायु; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; हृदयम्—मन; चित्—चेतना; अनुग्रहः च—तथा मिथ्या अहंकार या देवता; सर्वम्—हर वस्तु; त्वम्—तुम; एव—एकमात्र; स-गुणः—तीन गुणों से युक्त प्रकृति; विगुणः—आध्यात्मिक स्फुलिंग तथा परमात्मा जो

भौतिक प्रकृति से परे हैं; च—तथा; भूमन्—हे भगवान्; न—नहीं; अन्यत्—दूसरा; त्वत्—तुम्हारी अपेक्षा; अस्ति—है; अपि—यद्यपि; मनः-वचसा—मन तथा वाणी से; निरुक्तम्—प्रत्येक प्रकट वस्तु।

हे परमेश्वर, आप वास्तव में वायु, भूमि, अग्नि, आकाश तथा जल हैं। आप तन्मात्राएँ, प्राणवायु, पाँचों इन्द्रियाँ, मन, चेतना तथा मिथ्या अहंकार हैं। निस्सन्देह, आप स्थूल तथा सूक्ष्म हर वस्तु हैं। भौतिक तत्त्व तथा शब्दों या मन से व्यक्त प्रत्येक वस्तु आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

तात्पर्य : यह भगवान् विषयक सर्वव्यापी धारणा है, जो यह बताती है कि वे सर्वत्र व्याप्त हैं। सर्वं खल्विदं ब्रह्म—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म अर्थात् कृष्ण है। उनके बिना कोई वस्तु नहीं है। भगवद्गीता (९.४) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

“मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ और प्रत्येक व्यक्ति मुझमें स्थित है, फिर भी मैं सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।” भगवान् केवल भक्ति द्वारा देखे जा सकते हैं। तत्र तिश्ठाभि नारद यत्र जायन्ति मद्भक्ताः— भगवान् वहीं वास करते हैं जहाँ उनके भक्त उनके गुणों का कीर्तन करते हैं।

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये

सर्वे मनः प्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।

आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-

मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; एते—ये सब; गुणाः—प्रकृति के तीन गुण; न—न तो; गुणिनः—तीन गुणों के अधिष्ठाता देव (यथा ब्रह्मा रजोगुण के प्रधान देव हैं तथा शिव तमोगुण के); महत्-आदयः—पाँच तत्त्व, इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ; ये—जो; सर्वे—सभी; मनः—मन; प्रभृतयः—इत्यादि; सह-देव-मर्त्याः—देवताओं तथा मर्त्य मनुष्यों सहित; आदि-अन्त-वन्तः—जिनका आदि तथा अन्त है; उरुगाय—सभी साधु पुरुषों द्वारा महिमा-मण्डित होने वाले हे परमेश्वर; विदन्ति—समझतेहैं; हि—निस्सन्देह; त्वाम्—तुमको; एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; सुधियः—सारे बुद्धिमान पुरुष; विरमन्ति—रुक जाते हैं; शब्दात्—वेदों का अध्ययन करने या समझने से।

न तो प्रकृति के तीन गुण (सतो, रजो तथा तमो), न इन तीनों गुणों के नियामक अधिष्ठाता देव, न पाँच स्थूल तत्त्व, न मन, न देवता, न मनुष्य ही आपको समझ सकते हैं, क्योंकि ये सभी जन्म तथा संहार के वशीभूत रहते हैं। ऐसा विचार करके आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगत व्यक्ति भक्ति

करने लगे हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति वैदिक अध्ययन की परवाह नहीं करते, निस्सन्देह वे व्यावहारिक भक्ति में अपने आपको लगाते हैं।

तात्पर्य : जैसा कई स्थानों पर कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा परमेश्वर को जाना जा सकता है। बुद्धिमान मनुष्य अर्थात् भक्त श्लोक ४६ में वर्णित विधियों के विषयों में अधिक माथापच्ची नहीं करते (*मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययन-स्वधर्म*)। भक्ति द्वारा भगवान् को समझ लेने के बाद ऐसे भक्त वेदाध्ययन में रुचि नहीं दिखाते। निस्सन्देह, इसकी पुष्टि वेदों में भी हुई है। वेदों का कथन है *किम् अर्था वयम् अध्येष्यामहे किम् अर्था वयम् वक्ष्यामहे*। इतने वेदों का अध्ययन करने से क्या लाभ? उनकी तरह-तरह से व्याख्या करने से क्या लाभ? *वयम् वक्ष्यामहे*। किसी को न तो वेदाध्ययन की आवश्यकता रह जाती है, न दार्शनिक चिन्तन द्वारा उनका वर्णन करने की। *भगवद्गीता* (२.५२) का भी कहना है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

जब कोई भक्ति द्वारा भगवान् को जान लेता है, तो वह वेदाध्ययन बन्द कर देता है। अन्यत्र भी कहा गया है— *आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्*। यदि कोई भगवान् को समझ सकता है और उनकी सेवा में लग जाता है, तो कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। किन्तु यदि कोई कठिन तपस्या करके भगवान् को नहीं समझ पाता तो ऐसी तपस्या व्यर्थ है।

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः

कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।

संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं

भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; ते—तुम्हारा; अर्हत्-तम—हे सर्वश्रेष्ठ पूज्य; नमः—नमस्कार; स्तुति-कर्म-पूजाः—प्रार्थना तथा अन्य भक्ति कार्यों से भगवान् की पूजा करना; कर्म—आपको समर्पित कर्म; स्मृतिः—निरन्तर स्मरण; चरणयोः—चरणकमलों का; श्रवणम्—निरन्तर सुनना; कथायाम्—(आपकी) कथाओं का; संसेवया—ऐसी भक्ति; त्वयि—तुम में; विना—रहित; इति—इस प्रकार; षट्-अङ्गया—छह अंगों वाला; किम्—कैसे; भक्तिम्—भक्ति को; जनः—व्यक्ति; परमहंस-गतौ—परम हंस द्वारा प्राप्त; लभेत—प्राप्त कर सकता है।

अतएव हे श्रेष्ठतम पूज्य भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि षडंग भक्ति किये बिना परमहंस को प्राप्त होने वाला लाभ भला कौन प्राप्त कर सकता है? षडंग भक्ति के अंग हैं—प्रार्थना करना, समस्त कर्म फलों को भगवान् को समर्पित करना, पूजा करना, आपके निमित्त कर्म करना, आपके चरणकमलों को सदैव स्मरण करना तथा आपके यश का श्रवण करना।

तात्पर्य : वेदों का आदेश है—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।* भगवान् को केवल वेदाध्ययन तथा प्रार्थनाओं द्वारा नहीं समझा जा सकता। एकमात्र भगवत्कृपा होने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। अतएव भगवान् को समझने की विधि ही भक्ति है। भक्ति के बिना परम सत्य को समझने के लिए केवल वैदिक आदेशों का पालन करके परम सत्य को नहीं समझा जा सकता। भक्ति की विधि उस परमहंस द्वारा समझी जाती है, जिसने हर वस्तु का सार ग्रहण कर लिया है। भक्ति के फल ऐसे परमहंस के लिए सुरक्षित रहते हैं और यह अवस्था भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वैदिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। ज्ञान तथा योग जैसी अन्य विधियाँ भी तभी सफल होती हैं जब वे भक्ति के साथ मिली हों। जब हम ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा ध्यानयोग की बातें करते हैं, तो योग शब्द भक्ति का सूचक होता है। भक्तियोग या बुद्धियोग जब बुद्धि तथा पूर्ण ज्ञान से सम्पन्न किया जाता है, तो भगवद्धाम वापस जाने की वही एकमात्र सफल विधि होती है। यदि कोई संसार की पीड़ाओं से मुक्त होना चाहता है, तो इस लक्ष्य की शीघ्र पूर्ति के लिए उसे भक्ति ग्रहण करनी होगी।

श्रीनारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः ।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; एतावत्—यहाँ तक; वर्णित—वर्णन किया गया; गुणः—दिव्य गुण; भक्त्या—भक्ति से; भक्तेन—भक्त (प्रह्लाद महाराज) द्वारा; निर्गुणः—दिव्य भगवान्; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; प्रणतम्—भगवान् के चरणकमलों की शरण में आया हुआ; प्रीतः—प्रसन्न होकर; यत-मन्युः—क्रोध को वश में करके; अभाषत—इस प्रकार बोलने लगे।

महान् ऋषि नारद ने कहा : इस प्रकार अपने भक्त प्रह्लाद महाराज द्वारा दिव्य पद से प्रार्थना किये जाने पर भगवान् नृसिंह देव शान्त हो गये। उन्होंने अपना क्रोध त्याग दिया और दण्डवत् प्रणाम करने वाले प्रह्लाद पर अत्यधिक दयालु होने के कारण उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यहाँ पर निर्गुण शब्द महत्त्वपूर्ण है। मायावादी दार्शनिक परम सत्य को निर्गुण या निराकार मानते हैं। निर्गुण शब्द भौतिक गुणों से विहीन का सूचक है। दिव्य गुणों से पूर्ण होने के कारण भगवान् ने अपना क्रोध त्याग दिया और प्रह्लाद से बोले।

श्रीभगवानुवाच

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम ।

वरं वृणीष्वभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद; भद्र—तुम इतने सौम्य हो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं (हूँ); ते—तुम्हारा; असुर-उत्तम—हे असुर वंश (नास्तिकों) में श्रेष्ठ भक्त; वरम्—आशीर्वाद; वृणीष्व—(मुझसे) माँग लो; अभिमतम्—वांछित; काम-पूरः—हर एक की इच्छा पूरी करने वाला; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; नृणाम्—सारे मनुष्यों का।

श्री भगवान् ने कहा : हे सौम्य प्रह्लाद, हे असुरोत्तम, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। मैं हर जीव की इच्छा पूर्ण करना मेरी लीला है; इसलिए तुम मुझसे कोई मनोवाञ्छित वर माँग सकते हो।

तात्पर्य : भगवान् भक्तवत्सल हैं अर्थात् वे अपने भक्तों पर अत्यन्त प्रेम करने वाले हैं। यह कोई असामान्य बात नहीं कि भगवान् ने अपने भक्त को सारे आशीर्वाद दिये। भगवान् ने वास्तव में कहा “मैं सबों की मनोकामना पूरी करता हूँ। चूँकि तुम मेरे भक्त हो, अतएव जो कुछ तुम्हें चाहिए वह प्रदान किया जाएगा, किन्तु यदि तुम किसी अन्य के लिए प्रार्थना करो तो वह प्रार्थना भी पूरी की जाएगी।” इस तरह यदि हम भगवान् या उनके भक्त के पास जाँय या कोई भक्त हमें आशीष दे तो वह स्वाभाविक है कि हमें स्वतः भगवान् के सारे आशीष प्राप्त हो जाएंगे। यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई अपने वैष्णव गुरु को प्रसन्न कर ले तो उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाएँगी।

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे ।

दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; अप्रीणतः—बिना प्रसन्न किये; आयुष्मन्—हे दीर्घजीवी प्रह्लाद; दर्शनम्—दर्शन; दुर्लभम्—कभी-कभी; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; दृष्ट्वा—देख कर; माम्—मुझको; न—नहीं; पुनः—फिर; जन्तुः—जीव; आत्मानम्—अपने लिए; तप्तुम्—पछताने के लिए; अर्हति—पात्र है, योग्य है।

हे प्रह्लाद, तुम दीर्घजीवी होओ, मुझे प्रसन्न किये बिना कोई न तो मुझे जान सकता है, न मेरे महत्त्व को समझ सकता है, किन्तु जिसने मेरा दर्शन कर लिया है या मुझे प्रसन्न कर लिया है उसे अपनी तुष्टि के लिए पछताना नहीं पड़ता।

तात्पर्य : भगवान् को प्रसन्न किये बिना कोई किसी तरह से भी सुखी नहीं रह सकता किन्तु जिसने भगवान् को प्रसन्न करना सीख लिया है उसे अपनी भौतिक दशा पर और अधिक पछताना नहीं होता।

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः ।

श्रेयस्कामा महाभाग सर्वासामाशिषां पतिम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

प्रीणन्ति—प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं; हि—निस्सन्देह; अथ—इसके कारण; माम्—मुझको; धीराः—जो गम्भीर तथा बुद्धिमान हैं; सर्व-भावेन—सभी प्रकार से, भक्ति के विभिन्न भावों से; साधवः—सदाचारी पुरुष (सभी प्रकारसे पूर्ण); श्रेयस्कामाः—जीवन में श्रेष्ठ लाभ की इच्छा करने वाले; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; सर्वासाम्—समस्त; आशिषाम्—आशीर्वादों के; पतिम्—स्वामी को (मुझको)।

हे प्रह्लाद, तुम अत्यन्त भाग्यशाली हो। तुम मुझसे यह जान लो कि जो अत्यन्त चतुर तथा ऊपर उठे हुए हैं, वे सभी विभिन्न भावों द्वारा मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जो हर एक की सारी इच्छाओं को पूरा कर सकता हूँ।

तात्पर्य : धीराः सर्वभावेन शब्दों का अर्थ “तुम जिस तरह चाहो” नहीं है। भाव तो ईश-प्रेम की प्रारम्भिक दशा है—

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।

साधकानाम् अयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥

(भक्तिरसामृतसिंधु १.४.१६)

ईश-प्रेम तक पहुँचने के पूर्व भाव दशा अन्तिम विभाग है। सर्वभाव का अर्थ है कि मनुष्य भगवान् को कई दिव्य भावों से प्रेम कर सकता है—यथा दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य भाव। शान्त अवस्था में मनुष्य भगवान् की प्रेमाभक्ति की सीमारेखा पर होता है। ईश्वर का शुद्ध प्रेम दास्य भाव से प्रारम्भ होता है और सख्य, वात्सल्य में विकसित होता हुआ माधुर्य भाव को प्राप्त होता है। फिर भी इन पाँचों भावों

में से किसी एक द्वारा भगवान् की प्रेमाभक्ति की जा सकती है। चूँकि हमारा मुख्य कार्य भगवान् से प्रेम करना है, अतएव मनुष्य उपर्युक्त प्रेम के किसी भी पद से सेवा कर सकता है।

श्रीनारद उवाच

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।

एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; प्रलोभ्यमानः—लुभाया जाकर; अपि—यद्यपि; वरैः—आशीषों से; लोक—जगत को; प्रलोभनैः—विभिन्न प्रकार के लोभों से; एकान्तित्वात्—पूर्ण समर्पण करने के कारण; भगवति—भगवान् में; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; तान्—उन आशीर्वादों को; असुर-उत्तमः—असुरों के परिवार में श्रेष्ठ प्रह्लाद महाराज ने।

नारद मुनि ने कहा : प्रह्लाद महाराज भौतिक सुख की सदा कामना करने वाले असुरकुल के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। यद्यपि भगवान् ने उन्हें भौतिक सुख के लिए सभी वरदान दिए थे और वे उन्हें प्रलोभन दे रहे थे फिर भी अपनी अनन्य कृष्ण-भक्ति के कारण उन्होंने इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई भी भौतिक लाभ स्वीकार करना पसन्द नहीं किया।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज तथा ध्रुव महाराज जैसे शुद्ध भक्त भक्ति की किसी भी अवस्था में भौतिक लाभ की इच्छा नहीं रखते। जब भगवान् ध्रुव महाराज के समक्ष उपस्थित हुए तो ध्रुव ने उनसे किसी भौतिक लाभ की चाह नहीं की—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे।* शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने भगवान् से किसी प्रकार के लाभ की याचना नहीं कर सके। इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमेउपदेश दिया है—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहेतुकी त्वयि ॥

“हे जगदीश! मैं ऐसे वरों के लिए प्रार्थना नहीं करता जिनसे भौतिक सम्पत्ति, नाम या सौन्दर्य प्राप्त हो। मेरी एकमात्र इच्छा आपकी सेवा करने की है। कृपया मुझे अपने दास के दास की सेवा में लगा लें।”

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत “प्रह्लाद द्वारा नृसिंहदेव का शान्त किया जाना” नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।